मनोविज्ञान चिन्तामणि

लेखक

लालजी राम शुक्ल

लेक्चरर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी विश्वविद्यालय

संचालक, काशी मनोविज्ञानशाला

प्रकाशक

काशी मनोविज्ञानशाला

सिद्धगिरिबाग, बनारस ।

दो शब्द

मनोविज्ञान चिन्तामणि का उद्देश्य सरल भाषा में मनोविज्ञान के गम्भीर तथ्यों को सामान्य जनता के समक्ष रखना है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें मनुष्य के स्वभाव को समझने में बड़े महत्त्व का काम कर रही हैं। मनुष्य अपना स्वभाव समझे बिना सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य का आत्म-ज्ञान जितना बढ़ता है, वह जीवन में उतना ही अधिक शक्तिशाली और सफल बनता है।

हमारे मन में जितनी शक्ति है यदि उसका हम सदुपयोग करें, तो हम समाज को असाधारण देन दे जावें। परन्तु मन के गम्भीर स्तरों का ज्ञान न रहने के कारण इस शक्ति को व्यर्थ की बातों अथवा आन्तरिक संघर्ष में ही हम खो देते हैं। प्रस्तुत लेखों का उद्देश्य मनुष्य को अपनी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने में सहायता देना है। इन ग्रन्थियों के सुलझ जाने से मनुष्य न केवल अपने आप में सुखी हो जाता है, वरन् समाज की अपूर्व सेवा करने में समर्थ होता है।

वर्तमान काल में मानसिक रोगों की संख्या बढ़ रही है। मन का नियन्त्रण करना मनुष्य का सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। परन्तु इस पुरुषार्थ में भूल हो जाने से मनुष्य बड़े बड़े दुःखों का भी भागी होता है। हमारे सभी सद्ग्रन्थों में वासना के दमन पर जोर दिया गया है। मनुष्य की वासना दमित होकर उसके आन्तरिक मन में स्थान पा लेती है। फिर वह अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों में प्रकाशित होती है। इन दमित वासनाओं का निराकरण करना एक जटिल कार्य होता है। योगाभ्यास में लगे हुए बहुत से लोग पागलखाने के वासी बन जाते हैं। इसलिये भगवान कृष्ण और भगवान् बुद्ध ने वासना के निराकरण के लिये मध्यम मार्ग का अनुसरण करने की सलाह दी है।

बहुत से मनुष्य अपने वातावरण से दुःखी रहते हैं। वातावरण-जनित दुःखों का बहुत कुछ कारण मनुष्य के मन के भीतर होता है। अपने ही जटिल मनोभावों को मनुष्य वातावरण पर आरोपित कर देता है। जब मनुष्य अपने आपको समझ लेता है, तो वह अपने आपको वश में करने में समर्थ होता है। फिर वातावरण जनित अनेक कठिनाइयाँ सरलता से ही नष्ट हो जाती हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत लेख-माला उपयोगी सिद्ध होगी।

मनोविज्ञान शाला
सिद्धगिरिबाग, बनारस
ता० १३-१२-५५

लालजी राम शुक्ल

विषय-सूची

विचार-वितरण का महत्व

मनुष्य के जीवन की मौलिकता उसके विचारों पर निर्भर करती है। समाज का हम सबसे अधिक लाभ उसे अच्छे विचार देकर ही कर सकते हैं। अच्छे विचार वे हैं जो हमें प्रिय लगें और जिनसे हमारा लाभ हो। जो विचार किसी एक व्यक्ति का लाभ करते हैं वे ही समाज का लाभ करते हैं। अतएव अपने आपके लिये सोचे गये विचार ही सब समय की जनता के लिये लाभप्रद सिद्ध होते हैं। आत्म-शिक्षा के लिये लिखा गया विचार ही स्थायी जनशिक्षक होता है।

दूसरे व्यक्ति की सबसे ऊँची सेवा ज्ञान-सेवा है। यदि हम किसी व्यक्ति की भौतिक सहायता करते हैं तो इससे वह परावलम्बी बन जाता है। उसे सहायता लेने की आदत पड़ जाती है। इससे हमें भी सहायता करने का मिथ्या अभिमान होता है। जब हम विचारों से उसकी सहायता करते हैं अर्थात् जब हम उसमें निहित देवत्व को जगाते हैं तब हम उसे स्थायी लाभ पहुँचाते हैं। फिर वह अपने दुःखों को सरलता से सह लेता है। ज्ञानी मनुष्य किसी मनुष्य की बाहरी परिस्थितियों को बदलने की चेष्टा नहीं करता, वह उसकी मानसिक परिस्थितियों को बदलने की चेष्टा करता है। फिर वह व्यक्ति अपनी परिस्थितियों को स्वय बदल लेता है, अथवा उनके प्रति एक नया दृष्टिकोण धारण कर लेता है और जो परिस्थितियाँ उसे पहले प्रतिकूल दिखाई देती थीं उन्हें वह अनुकूल मानने लगता है। परिस्थितियों के प्रति मैत्री-भाव स्थापित हो जाने से वे वास्तव में हमारी सहायक बन जाती हैं। मनुष्य का मन ही स्वर्ग और नर्क है। जैसा उसका मन होता है वह अपने आसपास के संसार को भी वैसा ही पाता है।

मनुष्य के प्रकाशित विचार दुनिया को जितना लाभ पहुँचाते हैं, उससे कहीं अधिक उसके अप्रकाशित विचार लाभ पहुँचाते हैं। अधिकतर प्रकाशित विचार केवल पांडित्य का प्रदर्शन मात्र करते हैं। ये विचार पंडित के भीतरी मन में नहीं रहते। इन विचारों से स्वयं पंडित को शांति नहीं मिलती। अतएव वे ही विचार संसार को मौलिक लाभ पहुँचाते हैं जो मनुष्य अपने लिए उपयोगी सोचता है और जिन्हें वह आन्तरिक मन की प्रेरणा से संसार को देना चाहता है। ऐसे

बाहर से भी मिलते हैं। विचार-वितरण से विचार की शक्ति बढ़ती है। दूसरों का लाभ पहुँचाने की दृष्टि से प्रकाशित किया गया विचार सब से अधिक लाभ स्वयं का ही करता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भले विचारों के स्वागत और वितरण में कभी भी आलस्य अथवा देरी न करे।

मनुष्य के मौलिक विचार दो प्रकार के होते हैं एक लौकिक लाभ सम्बन्धी और दूसरे आध्यात्मिक लाभ सम्बन्धी। वैज्ञानिक विचार लौकिक लाभ सम्बन्धी होते हैं और सांस्कृतिक विचार आध्यात्मिक लाभ सम्बन्धी। वैज्ञानिक विचारों की आधुनिक युग में अधिक कीमत होती है क्योंकि हम सभी अपने जीवन का मूल्य बाहरी सफलता से आँकते हैं। परन्तु वैज्ञानिक विचारों से अधिक मूल्यवान सांस्कृतिक विचार हैं। विज्ञान मनुष्य को बाह्य जगत में उपस्थित मूल्यों को बताता है और सांस्कृतिक विचार अन्तर्मन में छिपे तत्व को दर्शाते हैं। ऐसे विचार के लिये अधिक परिश्रम और सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। अतएव यदि हमें कोई मौलिक सांस्कृतिक विचार आ जाय तो उसे तुरत ही लिपिबद्ध कर लेना चाहिये। लिपिबद्ध करने से विचार स्थायी हो जाता है और लोक-कल्याण मे सहायक होता है।

प्रत्येक मनुष्य को दूसरे लोगों के भले विचारों की अपेक्षा अपने ही विचारों का अधिक आदर करना चाहिये। दूसरे लोगों के विचारों के संचय से मनुष्य पंडित बनता है और अपने विचारों के संचय से वह ज्ञानी बनता है। दूसरे लोगों के विचार तबतक अपने नहीं होते जबतक हम उनको फिर से न सोचें। जल्दी से रटा गया विचार मनुष्य का कोई मौलिक लाभ नहीं करता। सद्विचार पर बार-बार मनन करना आवश्यक है। तभी वह अपना और दूसरों का कल्याण करने का हमें सामर्थ्य प्रदान करता है।

मनुष्य का मानसिक विकास

किसी भी व्यक्ति का मानसिक विकास धीरे-धीरे होता है। मानसिक विकास का अर्थ बुद्धि की वृद्धि, क्रिया करने की क्षमता का आना और भावों का विस्तीर्ण होना है। बालक में किसी घटना के विभिन्न पहलुओं पर सोचने की शक्ति नहीं होती, वह आगे पीछे की बात नहीं सोच सकता और उसमें किसी भी वस्तु के अनेक प्रकार के संबंधों पर सोचने की शक्ति भी नहीं होती। जैसे-जैसे वह आयु में बढ़ता है उसकी विचार शक्ति बढ़ती है। पशु की विचार-शक्ति सीमित होती है और मनुष्य की असीम। विचार की श्रेष्ठता के कारण ही मनुष्य पृथ्वी के अन्य प्राणियों का स्वामी बन जाता है। विचार की सहायता से वह बड़ प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है और विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को अपने काम में लाता है। जिस व्यक्ति की विचार-शक्ति जितनी अधिक होती है उसमें दूसरे लोगों पर प्रभाव जमाने की क्षमता भी उतनी ही अधिक होती है। संसार के विचारवान पुरुष विचार में पिछड़े हुये लोगों पर शासन करते हैं। अतएव विचार की वृद्धि होना मानसिक विकास का द्योतक है।

मानसिक विकास की दूसरी परख मनुष्य में कार्यक्षमता की वृद्धि है। कितने ही लोगों में विद्याव्यसन की और सोच सकने की शक्ति अच्छी होती है, परन्तु उनमें कार्यक्षमता बहुत कम रहती है। भारतवर्ष की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का कोई व्यापक दोष यदि दृष्टिगोचर होता है तो वह हमारे यहाँ के पढ़े लिखे लोगों में कार्य कुशलता के अभाव का। जब देहात के बालक थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना सीख जाते हैं तो वे कुशलतापूर्वक अपने घर का काम न करके नौकरी की खोज में लग जाते हैं। विद्याव्यसन मनुष्य में ऐच्छिक शिथिलता उत्पन्न करता है। दूसरे लोगों के विचार बार-बार मस्तिष्क में जाने से मनुष्य की मौलिक-चिन्तन-शक्ति में कमी हो जाती है। मौलिक-चिन्तन वह है जो दूसरों के विचारों पर आधारित न होकर अपने अनुभव पर आधारित रहता है और जिसका उद्देश्य जीवन की किसी विशेष प्रकार की समस्या का हल करना रहता है; विचार के लिये विचार करना मनुष्य का निकम्मा बनना है। पोथी-पण्डित किसी सिद्धान्त का अभ्यास करने में प्रवीण होते हैं, परन्तु जब उन्हें कोई व्यवहारिक समस्या हल करनी पड़ती है तो वे निकम्मे सिद्ध होते हैं। पुस्तकीय विचारों को बार-बार मन में आने देने से मनुष्य स्वतः चिन्तन करने की शक्ति को खो देता है। उसे अपने विचारोंपर विश्वास नहीं रहता।

जो मनुष्य पुस्तक में लिखे विचारों के बारे में अधिक सोचता है उसे

अपनी इच्छा शक्ति को काम में लाने का अवसर नहीं मिलता। इस तरह अनुपयोग से उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। इच्छा-शक्ति का बल विचार से नहीं बढ़ता है। मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की मानसिक-शक्ति का बल उसके उपयोग से बढ़ता है और अनुपयोग से घट जाता है। इच्छा-शक्ति के विषय में भी यही बात सही है। अतएव आधुनिक शिक्षा-शास्त्री बालकों की इच्छा-शक्ति को बली बनाने के लिये, उनके चारित्रिक विकास के लिये, उनमें कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिये पुस्तकीय शिक्षा पर जोर न देकर क्रिया द्वारा शिक्षा पर जोर देते हैं। अमेरिका की नई शिक्षा-प्रणाली का प्रधान उद्देश्य बालक को क्रिया द्वारा शिक्षा देना है।

अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य के जीवन का प्रधान-तत्व क्रिया है न कि विचार। मनुष्य के जीवन में क्रिया के आधीन विचार रहता है। जो विचार क्रिया में उपयोगी सिद्ध नहीं होता, वह व्यर्थ है। जैसे-जैसे मनुष्य की कार्य-क्षमता विकसित होती है उसकी चिन्तन शक्ति का विकास भी होता है। जबतक मनुष्य के सामने कोई जटिल व्यवहारिक समस्या नहीं आती तब तक उसे गम्भीरता पूर्वक सोचने की आवश्यकता ही नहीं होती। अतएव मनुष्य के विचार का विकास उसकी कार्य-क्षमता के साथ-साथ ही होता है।

ऊपर कहे गये दो प्रकार के विकास से मनुष्य वाह्य प्रकृति को जानता है और उसको अपने अधिकार में लाने में सफल होता है। परन्तु इस तरह के विकास से मनुष्य न तो अपने आपको जान पाता है और न अपने स्वत्व को विस्तीर्ण कर पाता है। मनुष्य के मानसिक विकास का अन्तिम लक्ष्य उसका आत्म-ज्ञान बढ़ाना है और उसके स्वत्व को विस्तीर्ण करना है। जिस मनुष्य के भावों का विकास नहीं होता उसकी इच्छायें निम्न-स्तर की रहती हैं। भाव ही आनन्द का स्रोत है। इच्छाओं का जन्म आनन्द की चाह से होता है। जिस व्यक्ति के भाव परिष्कृत नहीं होते उसकी इच्छायें भी परिष्कृत नहीं होतीं। कितने ही लोग विचार में तो बड़े ही बढ़े चढ़े-रहते हैं, परन्तु भावों में वे बच्चे ही बने रहते हैं अर्थात् उनका आनन्द उन बातों में रहता है जो बच्चे को प्रिय हैं। इस प्रकार के भावात्मक-चिन्तन से मुक्त करना सर्वोत्तम-शिक्षा का उद्देश्य है। विचार और क्रिया मनुष्य के चेतन मन की वस्तु हैं, परन्तु उसके भावों का उद्गम-स्थान उसका अचेतन मन है। इसलिये विचार और क्रियाओं को उन्नत कर लेना भावों को उन्नत करने की अपेक्षा सरल है। परन्तु भाव मनुष्य के गम्भीरतम मन की वस्तु है। वह उसके स्वरूप को जितना प्रदर्शित करता है उतना विचार और क्रिया नहीं प्रकट करते। उपनिषद् में कहा गया है "रसो वैसः" अर्थात् आत्मा का स्वरूप रस है,

परमात्मा को सच्चिदानंद कहा गया है। आत्मा की आनंद अर्थात् रस से इतनी घनिष्ट तादात्मयता से प्रत्यक्ष है कि मनुष्य का गम्भीर स्वत्व भावमय है। आधुनिक मनोविज्ञान भावों को अचेतन मन की वस्तु बताता है। भाव अन्तर-अनुभूति की वस्तु है। मनुष्य के अधिक दुःख विचार की गड़बड़ी के कारण नहीं होते वरन् भावों की गड़बड़ी के कारण होते हैं। जब मनुष्य के भावों और विचारों में विरोध होता है तो मनुष्य पागल बन जाता है। जिस मनुष्य के भाव सुधर जाते हैं, उसकी कल्पनायें अपने आप भली हो जाती हैं और वह सहज में ही भले काम करने लग जाता है। अतएव मानसिक विकास का सर्वोच्च लक्ष्य मनुष्य के भावों को शुद्ध और व्यापक बनाना है।

जिस मनुष्य के भाव विकसित नहीं होते वह सदा दुःखी रहता है, चाहे वह कितना ही विचारवान् और क्रियावान क्यों न हो। पहले-पहल मनुष्य के भाव अपने आप परही केंद्रित रहते हैं। फिर वे अपने मित्रों पर, प्रेयसी पर, परिवार पर और परिवार के हित चिन्तकों पर अवलम्बित होते जाते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य के भाव विकसित होते जाते हैं, उसका संसार मे पारिवारिक-संबंध बढ़ता जाता है। सच्चा महात्मा संसार के सभी लोगों को उसी प्रकार प्यार करता है जिस प्रकार वह अपने संबंधियों को प्यार करता है

"अयं निज परो वेति गणना लघु चेतषा।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

संसार के महापुरुषों के लिये संसार का कोई भी प्राणी अपने कुटुम्बी के समान ही है। ऐसा व्यक्ति सभी लोगों को एक ही दृष्टि से देखता है। उसके जीवन का लक्ष्य अपनी किसी भी इच्छा की पूर्ति करना नहीं होता, वरन् दूसरों का कल्याण करना और उनकी इच्छाओं की पूर्ति करना होता है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि तीन लोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त करने की मुझे इच्छा हो परन्तु तिसपर भी मैं हर समय काम में लगा रहता हूँ। मेरे काम का उद्देश्य लोक-संग्रह और लोक-कल्याण रहता है। महान् पुरुष इसलिये भी काम करते हैं जिससे कि उनको देखकर दूसरे लोग उसी प्रकार के काम में लग जायँ और इस तरह के काम में लग कर वे आत्म-विकास करें। जो लोग सबके हित में अपने हित को देखते हैं और जो लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं उनको किसी प्रकार का मोह अथवा शोक नहीं होता। वे मृत्यु से नहीं डरते। वे सदा आनन्द की ही स्थिति में रहते हैं

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्नेवाभिजानत
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यति। (ईश)

मानसिक विकास का अन्तिम लक्ष्य अपने आपको उस महान् तत्व से मिलाना है, जिससे सभी प्राणी उत्पन्न हुये हैं, जिसमें वे रहते हैं, और जिसमें अन्त में मिल जाते हैं। सभी नदियाँ सागर से अपना जल अर्थात् जीवन प्राप्त करती हैं, सागर की ही ओर प्रगति करती हैं और सागर में ही समाप्त हो जाती हैं। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व को समाज रूपी सागर में विलीन करने का लक्ष्य बना लेता है, जब वह समाज के सुख में अपने सुख को देखने लगता है और जब उसके सभी विचार और क्रियाओं का लक्ष्य समाज का हित बढ़ाना होता है, तभी हम उसे सुविकसित व्यक्तित्व का मानव कह सकते हैं। संसार की अच्छी से अच्छी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य ऐसे ही सुविकसित व्यक्तित्व का निर्माण करना है।

जब कभी मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अंग सुविकसित हो जाता है परन्तु दूसरा अंग अविकसित ही रहता है तब मानसिक संघर्ष की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य का कोई भी अंग उपयोग से विकसित होता है और अनुपयोग से वह अविकसित रह जाता है। जिन लोगों को बौद्धिक कार्य अधिक करना पड़ता है किन्तु सामाजिक सम्पर्क से जो दूर रहते हैं, उनका बौद्धिक विकास होता है किन्तु उनके भावों का विकास नहीं होता। ऐसे लोगों के भाव अविकसित ही रह जाते हैं। अनेक प्रकार की झक ऐसे लोगों मे पाई जाती है। अतएव हम कभी-कभी विचारवान और दार्शनिक व्यक्तियों को भी अपने भावों के प्रकाशन में बच्चों जैसा देखते हैं। वे कभी-कभी पशु जैसा व्यवहार करने लगते हैं। आधुनिक काल की शिक्षा का प्रधान दोष यही है कि इससे मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है परन्तु उसकी इच्छाओं और भावों का विकास नहीं होता। इस प्रकार का विकास उचित सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षा से होता है।

कामवासना का नियंत्रण

कामवासना का नियंत्रण करना एक बड़ा ही जटिल काम है। कामवासना मानव जीवन का मौलिक आधार है। यह न केवल उसके भौतिक शरीर का कारण है, वरन् उसके मानसिक विकास का भी आधार है। जैसे-जैसे मनुष्य की कामवासना का विकास होता है, उसके जीवन मे अन्य प्रकार की भी उन्नति होती है। यदि कामवासना के विकास मे रुकावट हो जाय तो मनुष्य का शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है। कामवासना एक नैसर्गिक वस्तु है अतएव इसके सम्बन्ध मे जबतक नैसर्गिक नियमों का ज्ञान नहीं हो जाता तबतक उसके ऊपर अज्ञान से नियत्रण करनेमे मनुष्य को अनेक प्रकार की मानसिक क्षति होती है। कामवासना के अविचारपूर्ण नियन्त्रण से उसमे अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अनेक प्रकार के मानसिक रोग और पागलपन भी कामवासना से खिलवाड़ करने से हो जाते हैं।

कामवासना जबतक सामान्य स्थिति में रहती है तबतक मनुष्य की इच्छाशक्ति द्वारा साध्य रहती है। परन्तु जब उसका रूप विकृत हो जाता है तो इच्छाशक्ति द्वारा उसका नियंत्रण करना हानिप्रद हो जाता है। कामवासना का बलपूर्वक नियंत्रण मानसिक जटिलता की अवस्थामें मनुष्य की इच्छा-शक्ति के बल को नष्ट कर देता है। मनुष्य जितना ही कामवासना के नियन्त्रण का यत्न करता है उसकी वासना उतनी ही प्रबल हो जाती है। हमारे सामने कितने ही किशोर बालकों और नवयुवकों की कामवासना के विकृत रूप की समस्याये आती हैं। कई किशोर बालकों को अपने ही द्वारा वीर्य-स्खलन की आदत हो जाती है। कितने बालकों के मन मे प्रबल बलात्कार की कल्पनाये आती हैं और इससे उनका वीर्य स्खलित हो जाता है। वे इस प्रकार की कल्पना को रोक नहीं पाते। काम वासना का इस प्रकार का विकृत रूप उसके दमन के कारण होता है। इस प्रकार की विकृत अवस्था में बालक की इच्छा शक्ति कोई काम नहीं करती। इसमे इच्छा शक्ति से केवल आन्तरिक मनका विरोध ही उत्पन्न होता है।

अपनी विकृत कामवासना पर विजय आत्मनिर्देश के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। विकृत वासना के विजय करने में डा० विलियम ब्राउन ने आत्मनिर्देश की, बड़ी उपयोगिता बताई है। आत्मनिर्देश के अभ्यास के पूर्व बालक का मानसिक विश्लेषण करना आवश्यक है। इस मानसिक विश्लेषण से बालक मे आन्तरिक विरोध की स्थिति घट जाती है और फिर आत्मनिर्देश द्वारा दिए गए

विचार उसके चेतन मन से अचेतन मन में चले जाते हैं। डा० ब्राउन ने आत्मनिर्देश के अभ्यास की निम्नलिखित विधि बताई है

'आत्मनिर्देश का अभ्यास रात में सोते समय करना सबसे अच्छा है। सब काम से निश्चिन्त होकर रात के समय मनुष्य को चाहिए कि वह एक बिस्तर पर लेट जाय और अपनी आँखें बन्द करके धीरे-धीरे दीर्घश्वास लेवे और छोड़े। जैसे-जैसे वह श्वास को छोड़ेगा, वह देखेगा कि उसके शरीर के विभिन्न अंग ढीले पड़ते जा रहे हैं। स्नायुओं की और मन की ढिलाई अथवा शैथिलीकरण की अवस्था में उसे शांत मन होकर कहना चाहिए कि अब मैं इस बुरी आदत से पूर्णतया मुक्त हो गया और अब इसके वश में कभी न होऊँगा। यदि कोई व्यक्ति पर्याप्त दृढ़ता से और ठीक तरहसे अपने आपको इस प्रकार का निर्देश देवे तो केवल एक ही बार के निर्देश से वह इस जटिल आदत से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार इस जटिल आदत से लेखक के अनुभव में आनेवाले अनेक रोगी मुक्त हुए हैं। यदि एक बार के आत्मनिर्देश से आदत न जाय तो उसे बार-बार दुहराते रहना चाहिए। इस तरह कुछ काल में यह आदत चली जाती है। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना है कि आत्मनिर्देश के फलित होने के लिए मन से चिन्ता को हटा देना नितान्त आवश्यक है। चिन्ता के रहने पर सभी प्रकार के सन्निर्देश विफल हो जाते हैं। बालक के मन में काम-कृत्यों के संबंध में अनेक प्रकार के भय उनके शुभचिन्तकों द्वारा उत्पन्न कर दिये जाते हैं। इन भयों का निराकरण करने के लिये बालक के शुभचिन्तकों की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि वे इस प्रकार की चिन्ताओं से ग्रस्त बालक से बातचीत करके उसके इस संबंध के अनर्गल विचारों को समाप्त कर दें।'

डा० ब्राउन के उपर्युक्त विचारों की सत्यता कोई भी व्यक्ति अपने प्रयोगों द्वारा देख सकता है। आत्मनिर्देश के द्वारा न केवल किशोर बालक की कामवासना संबंधी जटिल आदतें समाप्त हो जाती है और वह आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने में समर्थ होता है, वरन् कोई भी प्रौढ़ व्यक्ति इसी विधि से अपने काम वासना की असाधारण उत्तेजना को रोक सकता है। आत्म-निर्देश से मनुष्य की दूसरी प्रकार की मानसिक शक्तियों का भी विकास होता है। किसी भी प्रकार की मानसिक शक्ति की वृद्धि से कामवासना पर नियंत्रण करना सरल होता है।

कामवासना पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए मन में उसके सफल नियंत्रण की कल्पना लाना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य जिस प्रकार की कल्पना अपने मन में बार बार लाता है उसी प्रकार का सामर्थ्य उसमें उदय हो जाता है। जो व्यक्ति सदा सोचा करते हैं कि वे अपनी कामोत्तेजना को रोकने में असमर्थ

रहेंगे, वे वास्तव में उत्तेजना की स्थिति में आने पर कामवासना के नियंत्रण में असमर्थ रहते हैं। इसके प्रतिकूल जो लोग सोचते हैं कि चाहे कितनी ही जटिल परिस्थिति मे क्यों न पड़ जायँ वे अपनी मानसिक उत्तेजना को वश में रख सकेंगे, वे अपने आपको ऐसी परिस्थिति में वश में रखने मे समर्थ होते हैं।

मनुष्य की कामवासना उसके मन की दुर्बलता की अवस्था में उसे जितनी तंग करती है उतनी उसके आरोग्य की अवस्था में तंग नहीं करती। जीवन में असफलता के विचार मनुष्य की इच्छा-शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। जो व्यक्ति अपने आप को अभागा मान बैठता है और जो अपने अनेक प्रकार के लौकिक कार्य मे असफल होता है वह कामवासना के नियंत्रण में भी असफल रहता है। मनुष्य के जीवन की दूसरे प्रकार की सफलता कामवासना पर अधिकार करने में भी उसका सहायक बनती है। अतएव जो लोग सदा रचनात्मक कार्य में लगे रहते हैं वे कामवासना को जितना नियंत्रण में रखने में समर्थ होते हैं, उतना आलसी, निकम्मे और अनुद्योगी व्यक्ति उसे नियंत्रण में रखने में समर्थ नहीं होते। बार-बार किसी काम में असफल होनेवाला व्यक्ति मन से कायर बन जाता है। वह अपने आप को कोसने लगता है। ऐसे व्यक्ति में किसी बड़े कार्य को करने की हिम्मत नहीं रहती। ऐसा व्यक्ति अपनी कामवासना को भी नियंत्रण मे नहीं रख पाता। वीर भाव और कायरता मनुष्य की आदतों का परिणाम है। जो व्यक्ति अपने जीवन में बार-बार सफल होता है, वह वीर बन जाता है, क्योंकि वह पिछले बार की तरह सफलता ही की कल्पना मन में लाता है और बड़े-बड़े कार्य के लिए वह प्रोत्साहित होता है। इसके प्रतिकूल अपने जीवन मे बार-बार असफल होनेवाले व्यक्ति के मन में असफलता की ही कल्पना मन में आती है और इसके कारण वह किसी काम को एकाग्रचित्त होकर नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्ति के अनेक प्रकार के मनोभाव उसके वश में नहीं रहते और वह अपनी कामवासना को भी नियंत्रण में नहीं रख पाता।

किसी व्यक्ति को जीवन मे सफल बनाने के लिए पहले पहल उसकी कल्पनाओं में परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने आपको अभागा मान बैठा है उसकी कल्पनाएँ निराशावादी होती हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन में चरित्र के कोई सद्गुण नहीं रह जाते। चरित्र के सद्गुण उसी व्यक्ति के जीवन में रहते हैं जो अपने आपको भाग्यवान मानता है और जो सदा आशावादी बना रहता है। मनुष्य का निराशावादी बनना उसके विषयगामी और लोभी होने का परिणाम होता है। जो मनुष्य सच्चा, सदाचारी और संयत रहनेवाला होता है, वह अपने आपको निराशावाद में नहीं रहने देता। रचनात्मक

कार्य करने से मनुष्य में आशावादिता बढ़ती है और जैसे-जैसे उसमें आनन्द की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे उसमें आत्मनियंत्रण की शक्ति भी आती है।

देहात में एक कहावत प्रचलित है कि 'बैठे से बेगार भली'। कामवासना के नियंत्रण करने में अपने आपको किसी न किसी काम में लगाए रखना जितना आवश्यक है, उतना और किसी दृष्टि से नहीं। खाली मन शैतान का निवासस्थान होता है। अतएव जब मनुष्य अपने आपको किसी ऐसे कार्य में लगाता है, जिनसे उसका और दूसरों का भी लाभ हो, तो उसे वे विचार त्रास नहीं देते, जो उसे नीचे की ओर गिराते हैं। किसी भी आनन्ददायी उपयोगी काम में अपने आपको लगाए रखना कामवासना पर विजय प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

कामवासना के नियंत्रण में सफलता सम्पूर्ण जीवन में सफलता प्राप्ति का एक अंग है। जीवन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य का संसार के विभिन्न प्राणियों के प्रति और पूरी सृष्टि के प्रति उचित दृष्टिकोण हो। जिस व्यक्ति का जीवन-दर्शन डाँवाडोल रहता है, जिसकी मनोवृत्ति सदा संशयात्मक रहती है, वह अपने आप पर नियंत्रण प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। उसका आत्मनियंत्रण दिखावा मात्र होता है। मनुष्य का मन किसी स्थिर तत्व को प्राप्त कर ही अडिग रह सकता है। जिस व्यक्ति को किसी स्थिर तत्व के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं है, वह मन को भौतिक सुखों के अतिरिक्त और क्या देकर समझा सकता है? ऐसे व्यक्ति का मन सदा वहिर्मुखी होता है। वहिर्मुखी व्यक्ति में न तो स्थायी आत्म-विश्वास रहता है और न उसमें अपनी प्रबल वासनाओं पर नियंत्रण रखने की शक्ति होती है।

तत्व-दर्शन मनुष्य को अपने जीवन के विषय में एक नया प्रकाश देता है और नये प्रकार के आनन्द के स्रोत का अन्वेषण करता है। किसी प्रकार की ऐन्द्रिक सुख की लिप्सा अवैज्ञानिक बचपन है। इस बचपन से वही मुक्त हो सकता है जो सदा अपने आपको ज्ञान विज्ञान में लगाए रखता है और जो तत्व के वास्तविक रूप को जानने की चेष्टा करता है। सत्य की ओर प्रगतिशील व्यक्ति में अनायास ही अपने आपको नियंत्रण में रखने की शक्ति आ जाती है। जब मनुष्य का दार्शनिक विचार आत्म-निर्देश द्वारा उसके अन्तर्मन में चला जाता है तभी मनुष्य में विषयवासना पर नियंत्रण करने की शक्ति आती है। प्रत्येक व्यक्ति को न केवल अपने वाह्यमन को सुशिक्षित बनाना है, वरन् उसे अपने आन्तरिक मन को भी सुशिक्षित बनाना है। तभी वह कामवासना पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है।

बड़ों का हठ

बाल-हठ के प्रति हम सभी की दृष्टि जाती है, मनोविज्ञान बड़ों के हठ की ओर हमारी दृष्टि ले जाता है। बाल-हठ के बारे में हम अनेक प्रकार की बातें सुनते हैं। बालक जिस बात पर जिद करता है, उसे सरलता से नहीं छोड़ता। हठीले बालक को मारने-पीटने से उसके हठ करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ती जाती है। जो लोग बाल-हठ को मिटाने के लिए उनके साथ इतनी कठोरता का व्यवहार करते हैं कि बालक को उनकी इच्छा के अनुसार चलना ही पड़े, वे बालक के आत्म-विश्वास को ही नष्ट कर देते हैं। ऐसे ही बालक को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। बिस्तर पर पेशाब करना, हकलाना, स्मरणशक्ति को खो देना, मूर्छा और बार-बार छोटे-छोटे रोगों से पीड़ित होना तथा इस प्रकार की अनेक मानसिक जटिलताएँ उन बालकों को हो जाती हैं, जिन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध भला, आज्ञाकारी, सुशील और उद्योगी बनाने की चेष्टा की जाती है।

बाल-हठ बाल-स्वभाव का अंग है। बाल-हठ को प्रेम और मनोवैज्ञानिक उपचार द्वारा जीता जा सकता है। परन्तु जब हमारे सामने बड़ों के हठ का प्रश्न आता है, तब हमारी सारी मनोवैज्ञानिक सूझ ही समाप्त-प्राय हो जाती है। हमारे सामने बड़ों के हठ की समस्या इसलिए आती है कि बिना बड़ों के हठ का निरा-करण किये बाल-हठ का निराकरण नहीं होता। हमें अनेक प्रकार के जटिल बालकों के उपचार के लिये कुछ यत्न करने पड़ते हैं। बालकों के शारीरिक और मानसिक रोगों की जिम्मेदारी अधिकतर उनके अभिभावकों पर रहती है। ए० एस० नील महाशय ने अपने मनोवैज्ञानिक खोजों से पता चलाया है कि जटिल माता-पिता की सन्तान में मानसिक जटिलता आ जाती है। जब हम किसी बालक में विशेष प्रकार की मानसिक जटिलता देखें तो हमें जानना चाहिए कि बालक का बचपन जिस प्रकार के वातावरण में गुजरा है वह दूषित था और उसमें बालक को अभिभावक का वास्तविक प्रेम नहीं मिला। अभिमानी अभिभावक अपने बच्चे में सभी प्रकार की अच्छाई शीघ्रातिशीघ्र ले आना चाहते हैं। वह बालक की छोटी सी कमी के लिए बेहद परेशान हो जाता है और बालक के आचरण के सुधार के लिए बेहद चिन्ता करता है। परन्तु उसकी चिन्ता से बालक सुधरने के बदले जटिल होता जाता है। यदि ऐसे अभिभावक को बालक के प्रति उदारता की कोई सलाह दी जाये, तो उसे यह सलाह बड़ी ही कटु लगती है और इसमें वे बालक का अहित देखते हैं।

अभी हाल की बात है कि एक हकलाने वाला विद्यार्थी लेखक की चिकित्सा

में आया। उसकी चिकित्सा मनोविश्लेषण और निर्देश विधि से हुई। मनोविश्लेषण से पता चला कि उसकी हकलाहट का एक प्रधान कारण उसके घर का वातावरण और उसके पिता की कठोरता का व्यवहार था। उसका पिता साधारण सी नौकरी पर है। वह अपने लड़के को आदर्श व्यक्ति बनाना चाहता था। इसी के कारण वह उसे छोटी-छोटी भूलों के लिए बेहद डाँटता था। इससे बालक में हकलाहट आई। जब कुछ दिन के उपचार के बाद वह पिता के पास गया तो पिता उसकी हकलाहट को नष्ट होते देख आश्चर्य में आ गया, किन्तु एक दिन उसने देखा कि लड़का बातचीत करने में फिर से हकलाने लगा। पिता ने पूछा कि तुम इतने दिन तक नहीं हकलाते थे, अब क्यों हकलाने लगे? उसने कहा कि जब से आप ने मुझे डाटा है तब से हकलाना फिर आ गया। इस पर पिता ने उसे बहुत गालियाँ दीं। उससे कहा कि कहीं बाप के डाटने से हकलाहट आती है? तुम झूठ बोलते हो। वास्तव में पिता अपने हठ को छोड़ना नहीं चाहता था। वह अपनी कमजोरी को नहीं पहचानना चाहता था। यह बड़ों का हठ है।

एक और दूसरे हकलाने वाले लड़के की जीवनी का अध्ययन किया गया। वह अपने घर से बहुत ही दुखी है। जब इस बालक के अभिभावकों से सम्पर्क स्थापित किया गया, तो पता चला कि वे इस बालक को बड़ा ही हठीला और उद्दण्ड मानते हैं। उनका कहना है कि बालक में हकलाने की आदत एक हकलाने वाले बालक की नकल करने से आई। हम बालक को सुधारना चाहते हैं और वह दिन प्रति दिन बिगड़ता ही जाता है। वह आवारा लड़कों के साथ इधर-उधर घूमता है और पढ़ाई में मन नहीं लगाता। जब उसके एक अभिभावक को बताया गया कि बालक को घर में उचित स्नेह नहीं मिला और बालक के सुधार के लिए स्नेह की आवश्यकता है, तो इससे उसका अभिभावक दुखी हुआ और उसने बालक को घर का भेद दूसरों को बताने वाला मानकर कई प्रकार से उसे डाटा डपटा। जिस दिन वह डाटा गया उस दिन वह लेखक के पास आया। उसका दुःख बेहद था। यह ज्ञात हुआ कि बालकों को सुधार लेना सरल है, परन्तु बड़ों को सुधारना बड़ा कठिन काम है।

लेखक के एक मित्र गणित के अच्छे अध्यापक थे। लेखक उनके घर पर ही रहता था। वे अपने पुत्र को गणित पढ़ा कर विज्ञान में योग्य बनाना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि वह लड़का बड़ा बुद्धू है और सिवा उनके कोई उसे गणित नहीं पढ़ा सकता है। थोड़ी सी भूल होने पर वह बेहद डाटा जाता था। इसके परिणाम स्वरूप उसे एक ओर हकलाहट आ गई और दूसरी ओर गणित संबंधी सभी प्रकार की स्मृति का ह्रास हो गया। वह सभी पाठ्य-विषयों में पास

हो जाता था, परन्तु गणित में पास नहीं होता था। गणित के कारण ही उसे बिना इण्टर पास किये अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बालक को जो विषय डांट-डपट कर, मार-पीट कर, बुद्धू, बेवकूफ कहकर पढाया जाता है वह उसे कटु बन जाता है। फिर वह बालक के यत्न करने पर भी याद नहीं रहता। जो विषय बालक को स्नेह से पढाया जाता है, जिस विषय में बालक आनंद की अनुभूति करता है वह उसे शीघ्रता से याद भी हो जाता है। जब बालक को किसी विषय में असफलता के निर्देश मिलते हैं तो वह उस विषय में असफलता की कल्पना को ही, मन में लाने लगता है। मनुष्य अपनी कल्पना के अनुसार जीवन मे सफल अथवा विफल होता है। यदि किसी पाठ्य विषय के बारे में बालक की कल्पना हो गई कि वह उसे नही आवेगा, तो उसके लिए उस विषय का स्मरण रखना बड़ा कठिन हो जाता है। बालक के अभिभावक ही उसके विषय मे अनेक प्रकार की चिन्ताएँ अपने मन मे लाकर असफलता के निर्देश उसके मन में डाल देते हैं। ऐसे अभिभावक वास्तव में बालक की सफलता में बाधक होते हैं।

अपने आपको विद्वान, ज्ञानी और सद्गुणी समझने वाले व्यक्ति ही अपने बालकों की सबसे अधिक हानि करते हैं। जिस मनुष्य को अपनी विद्या का अभिमान रहता है, उसमें दूसरों से किसी प्रकार की बात सीखने की क्षमता नहीं रहती। अभिमानी माता-पिता की सन्तान दुराचारी अथवा निकम्मी होती है। सन्तान मनुष्य के आन्तरिक मन को व्यक्त करती है। कितने ही लोग बाहरी मन से बड़े विनम्र, विनयशील, सदाचारी और विवेकी होते हैं, परन्तु भीतरी मन से बड़े हठीले होते हैं। उनकी यह हठ ही, उनके संरक्षितों में व्यक्त होती है। जब बालक किसी बात का हठ करता है, तब अभिभावक का कर्तव्य है कि वह अपने हठ को छोड़ दे। जिस ओर बाल-मन जाता है, उसे दूसरी ओर न ले जाकर उसी ओर जाने दे जिस ओर वह स्वयं जाना चाहता है। इस प्रकार की उदारता के व्यवहार से अभिभावक बाल-हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। फिर बालक उसी ओर जाने लगता है, जिस ओर उसे अभिभावक ले जाना चाहते हैं। बालक को मनमानी करने देने का अर्थ बालक की भलाई में विश्वास करना है। यह भलाई का भाव ही बालक के लिए सन्निर्देश बनकर उसे भलाई की ओर ले जाता है। जटिल अभिभावक में बालक पर विश्वास करने की क्षमता नहीं रहती और वह बालक की हर एक बात को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है। वह फिर जिस दृष्टिकोण से बालक को देखता है उसी के अनुरूप बालक को वह पाता है। वास्तव में अभिभावक की सन्देह पूर्ण तथा आलोचनात्मक-दृष्टि ही बालक में बुराई की ओर जाने की प्रेरणा उत्पन्न कर देती है।

कितने ही माता-पिता अपने बच्चों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं, जिस प्रकार का व्यवहार एक आफिसर अपने नीचे काम करने वालों के साथ करता है। वे अपने बच्चों को उसी प्रकार दूर रखते हैं, जिस प्रकार अधिकारीगण कर्मचारियों से दूर रहते हैं। इस प्रकार दूर रह कर वे बच्चों को आदर्श नागरिक बनाना चाहते हैं। वे जीवन की छोटी-छोटी बातों को उन्हें बड़ी सावधानी से सिखाते हैं। इस प्रकार के व्यवहार के परिणाम स्वरूप वे एक ओर अपने जीवन को क्लेशमय बना लेते हैं और दूसरी ओर बालकों का जीवन भी असह्य बना देते हैं। ऐसे अभिभावक में अपने आप के विषय में भारी अभिमान रहता है। यह अभिमान वास्तव में आत्महीनता के भाव को छिपाने का एक साधन है। अपने बच्चों की आलोचना से डरने वाले लोग उन्हें अपने आप से दूर रखते हैं और इसके लिये अनेक झूठे कारण खोज लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों से उनके संरक्षित बालक डरते अवश्य हैं, परन्तु वे उन्हें प्यार नहीं करते। कभी-कभी इस प्रकार के अभिभावकों के संरक्षण में रहने वाले बालक घर छोड़कर ही भाग जाते हैं। जो ऐसा नहीं करते वे रोग का आवाहन करते हैं और अनेक प्रकार से शारीरिक अथवा मानसिक रोगी बन जाते हैं। इस प्रकार वे अपने अभिभावक से अपने प्रति किये गये अत्याचार और अवहेलना का बदला लेते हैं।

जिन बालकों को माता-पिता का स्नेह नहीं मिलता, वे उन्हें सुख न देकर दुख ही देते हैं। स्वार्थी अभिभावक बालक से कभी सुख नहीं पाता। बालक बड़ों के आन्तरिक भावों को पहिचानने में बड़ा प्रवीण होता है। जो बालक को अपने ऊपरी व्यवहार से धोखा देना चाहते हैं, वे अपने आप को ही धोखा देते हैं। यदि बालक को अभिभावक से सच्चा स्नेह मिलता है, तो वह आगे चलकर अभिभावक को सुखी बनाने की चेष्टा करता है और यदि उसे सच्चा स्नेह नहीं मिला तो वह उनके दुख का कारण बन जाता है। कितने ही अभिभावक बालक की दुष्टता के लिये अपने आप को जिम्मेदार न मानकर वातावरण की किसी बात को, बालक के जन्म-जात स्वभाव को अथवा किसी व्यक्ति के संसर्ग को इसका कारण मान लेते हैं। परन्तु यह उनकी हठवादिता है। इसका पूरा बदला उन्हें अपने ही जीवन में चुकाना पड़ता है। बूढ़े होने पर वे अपने ही बच्चों से डरने लगते हैं। वे अपने लिये कुछ धन सुरक्षित रख लेते हैं, ताकि उन्हें यदि कोई न पूछे तो वे अपनी आजीविका चलाते रहें। परन्तु इस प्रकार वे सुखी नहीं रहते। जिस मनुष्य को अपने समीप के संबंधियों का स्नेह नहीं मिलता उसका जीवन भार रूप हो जाता है, चाहे कितनी ही भौतिक सुविधाएँ उसे क्यों न प्राप्त हों।

अपने बच्चे को डांट-डपट कर पढ़ाने वाले उपर्युक्त मित्र और उस बालक में

द्वेष का भाव उत्पन्न हो गया था। अतएव वे उस लड़के को अपने से दूर ही रखना चाहते थे। माता का स्नेह पति की अपेक्षा अपने बच्चे पर अधिक होता है और जब पिता पुत्र में द्वेष-भाव रहता है तो माता अपनी सहानुभूति पति के साथ न रखकर बच्चे के साथ ही रखती है। ऐसी अवस्था में पति न केवल अपने लड़के का वरन् अपनी स्त्री का भी स्नेह खो देता है। अतएव जैसे-जैसे लड़के का पिता के प्रति द्वेष भाव बढ़ता गया उसकी माँ का भी पति के प्रति द्वेष भाव बढ़ता गया। पिता भी उसे आन्तरिक मन से शत्रु मानने लगा। एक बार लड़के की नौकरी छूट गई और उसे अपनी आजीविका का प्रयत्न वहीं करना पड़ा जहाँ उसकी माता और पिता रहते थे। लड़के के घर आने पर पिता ने स्वप्न देखा कि उसकी छाती पर एक शेर आ बैठा है और उसका खून पीना चाहता है। इसके कारण घबराहट से पिता चिल्ला उठा। स्वप्न लेखक को बताया गया। उसका अर्थ इससे स्पष्ट है कि लड़के के आने के थोड़े ही दिन बाद पिता और पुत्र मे अनबनी हुई। माता ने पुत्र का पक्ष लिया। फिर इसी चिन्ता और बेचैनी मे पिता की मृत्यु हो गई।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि जो अभिभावक अपने बच्चों को उचित स्नेह नहीं देते, वे चाहे कितने ही विद्वान और विनयशील क्यों न हों, अपना जीवन क्लेश में ही व्यतीत करते हैं। ऐसे लोगों को यदि पहले से ही मनोविज्ञान का कुछ ज्ञान रहे तो वे इस ज्ञान से लाभ न उठाकर उससे अपना अभिमान ही बढ़ाते हैं। किसी प्रकार का ज्ञान मनुष्य के हृदय का परिवर्तन नहीं करता। हृदय का परिवर्तन व्यवहार से ही होता है। जिन लोगों के मन में बचपन से ही आत्महीनता की ग्रन्थियाँ हैं, वे शीघ्रता से अपना हठ नहीं छोड़ते। आत्महीनता की ग्रन्थि मनुष्य को अनेक प्रकार से अभिमानी बनाती है और आत्मसुधार का मार्ग बन्द कर देती है। ऐसे व्यक्ति दूसरों के सुधार में रत रहते हैं। यदि उन्हें कोई उनकी त्रुटि बतावे, तो उसकी हानि करने के लिये उसी प्रकार उद्यत हो जाते हैं, जिस प्रकार हठीला बालक, अपने सुधारनेवाले को दुखी करने के लिए उद्यत हो जाता है। हम सभी लोग किसी न किसी प्रकार हठीले हैं। बाल-स्वभाव को जानने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि हम अपने आन्तरिक मन को पहचानने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं। बालक से ही अपने आन्तरिक मन का हठ जाना जा सकता है। वही व्यक्ति दूसरों का और अपना सच्चा सुधार कर सकता है, जो बालकों से भी शिक्षा लेते रहता है। ऐसे ही व्यक्ति के बालकों में सच्चा शील, विनय और सामर्थ्य होता है।

बालकों की सेवा का महत्व

छोटे बालक की सेवा करना आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का सबसे योग्य साधन है। यह एक धार्मिक कार्य है। इससे हमारा मन पवित्र होता है। इस उपासना के द्वारा हम अपने प्रबल मनोवेगों के ऊपर विजय प्राप्त करते हैं। काम और क्रोध ये दो ऐसे मनोवेग हैं जिन पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए असम्भव-सा प्रतीत होता है, किन्तु बालकों की सेवा से इन पर विजय की जा सकती है। हमारे मन के भीतर विष की अनेक पोटलियाँ मानसिक ग्रन्थियों के रूप में पड़ी हुई हैं। ये जहरीली गाँठें हमारे मन को शान्त नहीं रहने देतीं। इन के कारण हमारा मन सदा दुःखी और चंचल बना रहता है। बालक के प्रति प्रेम प्रदर्शन से ये जहर की पोटलियाँ नष्ट हो जाती हैं और उनकी जगह पर सुधा-रस से परिपूर्ण कलश हमारे मन-मंदिर में सुशोभित होने लगते हैं।

वेदशास्त्र का पर्याप्त अध्ययन करने के पश्चात् जब देवर्षि व्यास को मानसिक शान्ति न मिली तो उन्होंने नारद जी से शान्ति के उपार्जन का मार्ग पूछा। नारदजी ने उन्हें बालकृष्ण की उपासना का उपदेश दिया। व्यासजी ने इस उपदेश को मानकर अपने शुष्क शास्त्रीय जीवन को त्यागकर रसमयी बालकृष्ण की भक्ति का जीवन स्वीकार किया। जिसके परिणामस्वरूप 'श्रीमद्भागवत' का सृजन हुआ। कृष्ण की बाललीला गा-गा कर न सिर्फ व्यासजी ने ही मानसिक शान्ति प्राप्त की किंतु करोड़ों नर नारियों ने अपने आपको आनन्दमय बना लिया। आज भी कृष्ण-चरित्र भारत के करोड़ों लोगों के अवर्णनीय सुख का हेतु है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से किसी भी बालक की सेवा से वही लाभ होता है जो उत्तम से उत्तम काम करने से होता है। बालक की सेवा परमात्मा की सेवा है। यदि बालक की सेवा कोई निःस्वार्थ भाव से करता है तो वह परमानन्द की प्राप्ति का अधिकारी अपने आपको बनाता है। जो माता-पिता अपनी संतान को अपनी न समझ कर सर्वात्मा की समझते हैं, वे अपने को उनका रक्षक मात्र मानते हैं, वे सन्तान को योग्य ही नहीं बनाते किन्तु अपने आप में भी दैवी विभूतियों को जाग्रत करते हैं, जो मनुष्य को अपने आध्यात्मिक शत्रुओं के विनाश में बड़ी सहायक होती हैं। वे शिक्षक धन्य हैं जो अपने सभी शिष्यों से अपनी संतान जैसा व्यवहार करते हैं। बालकों के प्रति अपना और पराया भाव छोड़ कर उनकी सेवा करना वैसा ही उच्चतर कर्म है जैसा कि कठिन से कठिन योगाभ्यास।

बालकों की सेवा करना सरल कार्य नहीं। विरले ही माता पिताओं का

अपनी सन्तान के प्रति योग्य दृष्टिकोण होता है। अधिकतर माता-पिता सन्तान की सेवा अपने सुख के हेतु करते हैं। बालकों के कल्याण के विषय में वे ध्यान नहीं देते। यह धर्म-बुद्धि नहीं, अधर्म-बुद्धि है। यह बालकों के प्रति प्रेम प्रदर्शन नहीं, अन्याय करना है जिसे हम जानते भी नहीं। यदि हम बालकों का लालन-पालन इसलिये करते हैं कि वे हमको रुपया कमा कर देंगे अथवा हमारा ज्ञान बढ़ावेंगे तो हम उनके प्रति सच्ची भलाई नहीं करते। कितने आमिषा-हारी अजापुत्र को नई-नई बेर को कोंपलें इसलिये खिलाते हैं कि उसका माँस खाने में स्वादिष्ट लगे। वे बकरे के बच्चे को बड़े परिश्रम के साथ पालते हैं। बच्चा भी जबतक जीता है, बड़ा ही सुखी रहता है किन्तु वास्तव में इस बच्चे को पालनेवाले की बुद्धि पालनेवाले की नहीं है। बकरी के बच्चे का वास्तविक सुख मीठी पत्तियों के खाने में नहीं है। पालन की बाह्य क्रिया के मूल में मारने की इच्छा है। उस बच्चे का क्षणिक सुख उसकी मृत्यु में परिणत होता है। संतान से लाभ उठाने की इच्छा से उनका लालन पालन करना ऐसा ही अनर्थमूलक है जैसा कि हत्या की इच्छा से बकरी के बच्चे को पालना। यह बालकृष्ण की सेवा नहीं है, यह अपने अहकाररूपी भेड़िये के लिये खाद्य की तैयारी है।

मनुष्य की सब से प्रबल इच्छा काम-इच्छा है। आधुनिक मनोविज्ञान विशारद इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शॉपेन हावर का कथन है कि यही इच्छा लड़ाई का कारण, शान्ति का परिणाम, गम्भीरता का आधार, मजाक का लक्ष्य और अनेक अवर्णनीय विचित्र बातों का आधार होती है। क्या निरक्षर, क्या युवा, क्या बूढ़ा सभी को यह इच्छा अपने चंगुल में फँसाये रखती है। कितने ही जड़वादी इस इच्छा पर विजय करना असम्भव समझते हैं। उनके कथनानुसार इस प्रकार का प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं, अप्राकृतिक है। इस इच्छा का दमन मनुष्य के प्रति अन्याय है।

किन्तु जो कामवासना पर विजय प्राप्त करना अथवा उसको काबू में रखना एक उचित पुरुषार्थ मानते हैं उन्हें योग्य मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। बालक की सेवा कामवासना पर विजय प्राप्त करने में बड़ी भारी सहायक सिद्ध होती है। जितने ही छोटे बालकों की सेवा की जाय, उतना ही अधिक इस विषय में लाभ होता है। जो विधवायें अथवा अविवाहित स्त्रियाँ अपना जीवन पवित्रता से बिताना चाहती हैं, वे बालकों की सेवा, शिक्षा अथवा लालन-पालन का कार्य अपने ऊपर लेती हैं। बालकों के लालन-पालन में कामवासना भोग का रूप न धारण कर शुद्ध-सन्तान प्रेम के रूप में प्रकाशित होती है। सन्तान-प्रेम कामवासना का शोधित रूप है। जो पति-पत्नी कामेच्छा से मुक्त होना

चाहते हैं, वे लगन के साथ बालकों की सेवा करते हैं। बालकों की लगन से सेवा करना भोगेच्छा को शिथिल बनाना है।

बालक पति-पत्नी के प्रेम का मूर्त्तिमान स्वरूप है। इस प्रकार परमात्मा की पूजा से भोग की इच्छा रूपी जड़-बुद्धि नष्ट हो जाती है। जब पति-पत्नी एक दूसरे का मिलन अपनी सन्तान में मूर्त्तिमान होते देखते हैं तब उनके क्षणिक मिलन की इच्छा दूर हो जाती है। अब जड़ आलिंगन की जगह चैतन्य आलिंगन होता है। जड़ आलिंगन शक्ति का विनाशक और मृत्युकारक होता है और चैतन्य आलिंगन शक्ति का उत्पादक और अमरता का देनेवाला है। सन्तान से माता-पिता को स्थायी सुख का ही लाभ नहीं होता, उन्हें अमरत्व की भी प्राप्ति हो जाती है। जो लोग संतान-निग्रह के उपायों का रतिक्रिया में उपयोग करते हैं वे वास्तव में दाम्पत्य प्रेम के रहस्य को ही नहीं समझते। वे अपने और दूसरे के प्रति अत्याचार करते हैं। उनकी कामवासना शान्त होने का कोई साधन ही नहीं रहता। उन्हें विषय भोग का क्षणिक सुख प्राप्त होता है, किन्तु उन्हें आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति नहीं होती जो कि संतान सेवा से ही प्राप्त हो सकती है। जैसे भोग जड़ता का मूर्त्तिमान रूप है, वैसे ही सेवा आध्यात्मिकता का।

जैसे कामवासना पर विजय प्राप्त करने का सब से प्रबल साधन बालसेवा है, इसी तरह क्रोध पर भी विजय प्राप्त करने का सब से बड़ा साधन बालसेवा है। लेखक ऐसे दो महान् पुरुषों के उदाहरणों से परिचित है जिनके द्वारा गृहस्थ और अविवाहित जीवन की खूबी भलीभाँति देखी जा सकती है। दोनों ही व्यक्ति साधक हैं। एक को बारह सन्तानें हैं और दूसरे आजन्म ब्रह्मचारी हैं। उन्होंने न सिर्फ अपना सारा समय ही लोकसेवा में दे दिया, वरन् अपना जमा किया हुआ पैसा भी लोकोपकारी संस्थाओं को दे दिया। यह एक गृहस्थ के लिये असम्भव कार्य है। ये महात्मा बड़ी ही कठोरता के साथ नियम पालन करते हैं और उनकी बुद्धि सदा कर्तव्योन्मुख रहती है। पचहत्तर वर्ष की उम्र हो जाने पर भी वे नवयुवकसे काम करते हैं। इस प्रकार का काम करना बारह बच्चों के पिता के लिये असम्भव प्रतीत होता है, परन्तु बाल-सेवा के महत्व का इनके व्यवहार से दिग्दर्शन होता है। वे छोटी-छोटी बातों से चिढ़ जाते हैं। मनुष्यों की साधारण त्रुटियाँ उन्हें असह्य हो जाती हैं। कभी-कभी लोगों को उनकी भूलों के लिये ऐसा फटकार देते हैं कि उससे फटकार सुननेवाले को ही मानसिक दुःख नहीं होता, स्वयं उन्हें भी मानसिक पीड़ा हो जाती है। उपर्युक्त अविवाहित महापुरुष महान तपस्वी होते हुए भी क्रोध के समक्ष बच्चे ही हैं। कभी-कभी वे अपने क्रोध के कारण इतने विह्वल हो उठे हैं कि उन्हें अपने हृदय की वेदना मिटाने

के लिये छोटे बालकों से ही क्षमा माँगनी पड़ी।

इसके प्रतिकूल उक्त गृहस्थ महाशय को लोगों की अनेक भूलें क्षमा करने की आदत पड़ गई है। उन्हें सदा इस बात का ध्यान रहता है कि किसी व्यक्ति को उसकी गलती के लिये इतना अधिक न डाँट दिया जाय कि उसके कारण उसका सारा दिन ही खराब हो जाय। ये बड़े उदार पिता हैं और यदि इनके बालकों में कोई दोष पाये जाते हैं तो वे इनकी कठोरता के कारण नहीं वरन् इनकी उदारता के कारण ही पाये जाते हैं। यही उदारता समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ उदारता के रूप में परिणत हो गई। मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है। अपने मौलिक गुणों का अभ्यास हम सबसे पूर्व अपने पारिवारिक जीवन में करते हैं। जिस दृष्टिकोण से हम अपनी सन्तान को देखते हैं वही दृष्टि-कोण समाज के अन्य पुरुषों के प्रति भी बन जाता है। यदि हम स्वार्थी हैं तो न हम अपनी सन्तान के प्रति उदार हो सकते हैं और न दूसरों के प्रति। यदि हम अपनी कर्त्तव्य बुद्धि से अपने आश्रितों का लालन-पालन करते हैं तो हम जब सामाजिक काम करेंगे तब हमारी दृष्टि सदा कर्तव्य परायणता की होगी।

क्रोध की विनाशक मैत्री भावना हैं। पारिवारिक जीवन मैत्री भावना के अभ्यास का सबसे सुन्दर स्थल है। कौन ऐसा पिता होगा जो अपने पुत्र का कल्याण न चाहता हो। कौन ऐसी माता होगी जो पुत्र के बिल्कुल निकम्मा होते हुए भी उसका जीना नहीं चाहेगी। यह मैत्रीभावना का अभ्यास मानसिक दृढ़ता लाता है, हमारे नकारात्मक विचारों को नष्ट करता है तथा "निराशावाद का उन्मूलन करता है। क्रोध इसके सामने वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूर्य के प्रबल आतप से मेघ।

बालकों का लालन-पालन घृणा की मानसिक वृत्ति का नाश करता है। प्रत्येक साधारण व्यक्ति अपने शरीर के प्रति प्रेम करता है और दूसरे के प्रति घृणा जिसका अहंकार जितना बड़ा होता है, उसकी घृणा भी उतनी ही बड़ी होती है। घृणा से व्याप्त लोग बाहर से बड़े साफ सुथरे रहते हैं। वे गन्दगी में हाथ डालना पसन्द नहीं करते। इसके विपरीत प्रेम अभिमान का दमन करता है और घृणा से निर्मित मानसिक ग्रन्थियों को खोल कर उनके विष को नष्ट कर देता है। माता प्रेम कर बालक की शारीरिक गन्दगी को साफ करती है, इस कार्य में उसे कोई भी घृणा और ग्लानि नहीं होती। इस काम को करके माता अपने मन को पवित्र बनाती है। जो स्त्रियाँ बाँझ रह जाती हैं, उन्हें इस प्रकार अपने मन को पवित्र बनाने का अवसर नहीं मिलता अथवा जिन स्त्रियों के मन में सन्तान की सेवा की

भावना इतनी प्रबल नहीं होती कि उनकी घृणा की भावना को जीत सके, उन्हें प्रकृति सन्तान नहीं प्रदान करती अथवा संतान पैदा होकर उसे जीवित नहीं रहने देती। बाँझ स्त्रियाँ जितनी स्वच्छ दिखाई देती हैं उतनी सन्तान वाली स्त्रियाँ नहीं दिखाई देतीं। बाँझ स्त्रियाँ दूसरो के चरित्र की आलोचना बड़े चाव के साथ करती हैं। जो बात स्त्रियों के सम्बन्ध मे सत्य है वही पुरुषों के विषय में भी सत्य है।

वास्तव मे बच्चा एक शक्ति का केन्द्र है। जो बच्चे की सेवा इस भाव से करता है, कि उससे उसे शान्ति और आनन्द मिलता है तथा उसकी मानसिक शक्ति बढ़ती है, उसे अवश्य लाभ होता है। बच्चे के मन में अन्तर्द्वन्द नहीं होता। इसलिये उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती। बच्चे के सम्पर्क में आते ही मनुष्य का मन भी बच्चे के मन जैसा सरल बन जाता है। जिस भाव से हम प्रभावित रहते हैं, उसी भावना को हम चरितार्थ भी करते हैं। बच्चे की सरलता बार-बार मन में लाने से, उसके प्रेम का चित्र बार-बार मन मे अंकित करने से हम स्वयं सरल चित्त के हो जाते हैं और हमारा स्वत्व प्रेम से पूर्ण हो जाता है। जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है, वहीं शान्ति और वहीं सच्चा स्वास्थ्य है। प्रेम और परमात्मा एक ही तत्व के दो नाम हैं। प्रेम परमात्मा की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में नाम का भेद है, तत्व का नहीं।

अचेतन की खोज

संसार के जिन दो महापुरुषों ने वर्तमान सभ्यता में भारी उथल-पुथल की वे कार्लमार्क्स और डा० सिगमण्ड फ्रायड हैं। कार्लमार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने समाज का ढाँचा ही बदल दिया। उसने पुरानी रूढ़ियों, प्रथाओं और श्रद्धाओं के ऊपर जो कुठाराघात किया उसके परिणाम स्वरूप समाज में चारो ओर क्रान्ति फैल गई। बड़े-बड़े राजा और करोड़ाधीश मार्क्सवाद की आँधी के सामने तिनके के समान उड़ गये। जो कार्य मनुष्य के बाह्यजगत में मार्क्स ने किया वही कार्य मनुष्य के अन्तर्जगत में फ्रायड ने किया।

मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन के आधार उसके विश्वास और श्रद्धा होते हैं। कार्लमार्क्स ने समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण करके यह दर्शाने की चेष्टा की है कि जिन लोगों या जिस वर्ग के प्रति जन साधारण श्रद्धा रखती है वह झूठी मान्यता के ऊपर आधारित है। इस प्रकार की श्रद्धा का अंत होना स्वाभाविक है जो समाज की ऐतिहासिक प्रगति ही अपने आप कर देती है। फ्रायड ने भी मनुष्य के मन के गहरे से गहरे भावों का अध्ययन करके यह दर्शाने की चेष्टा की है कि हम अपने बहुत से श्रद्धायुक्त कामों में अपने आपको केवल धोखा ही देते रहते हैं। इस प्रकार अपने आपको धोखा देने की क्रिया से सुखी न होकर दिन प्रति दिन दुखी ही होते जाते हैं। जब तक मनुष्य अपने आन्तरिक मन को भली प्रकार से नहीं समझता है तब तक वह अनेक प्रकार के रोगों और यन्त्रणाओं का पात्र बना रहता है।

मनुष्य के मन के दो भाग हैं एक चेतन मन और दूसरा अचेतन-मन। मनुष्य का चेतन मन उसके लौकिक व्यवहार और तत्सम्बन्धी चिन्तन का बना होता है और उसका अचेतन-मन उसकी मूल–प्रवृत्तियों और वासनाओं का बना रहता है। मन के दोनों भाग क्रिया–शील हैं। मनुष्य का चेतन मन विचारवान और विवेकी है और उसका अचेतन-मन इच्छायुक्त है। वह भले बुरे का विचार नहीं रखता। मनुष्य अपने अचेतन-मन में उसी प्रकार का है जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी हैं। वह पशुओं के समान है। मनुष्य में नैतिकता समाज संपर्क से आती है और वह मनुष्य के चेतन मन की विशेषता है। बहुत दिन के अभ्यास के फलस्वरूप मनुष्य के चेतन-मन के नैतिक-भाव उसकी चेतना की सतह के नीचे चले जाते हैं। फिर ये नैतिक-भाव अचेतन और चेतन मन के बीच में ठहर कर अचेतन मन की वासनाओं को उनके नग्न रूप में प्रगट होने में बाधा डालने लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य की बहुत सी वासनायें चेतना की सतह

पर नहीं आतीं और बहुत सी वासनायें चेतना की सतह पर आने के पूर्व बहुत दूर तक बदल जाती है।

हम अपने अचेतन मन को स्वप्न, अनायास भूल, निरर्थक क्रियाओं, बाध्य विचार और चिन्ताओं में देखते हैं। मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग इसीलिये होते हैं कि वह अपने अचेतन मन की इच्छा को तृत नहीं होने देता। वह उसे स्वीकार करने के लिये भी तैयार नहीं होता। अचेतन मन की दबी हुई इच्छाएँ ही अकारण भय और चिन्ता का रूप धारण कर लेती हैं। जिन इच्छाओं का दमन किया जाता है वे साधारणत नैतिकता की दृष्टि से निम्नकोटि की होती हैं। इन इच्छाओं का दमन मनुष्य के नैतिक भावों द्वारा उसके अनजाने ही होते रहता है। इस प्रकार मनुष्य के मन में बड़ी बड़ी उलझनें पड़ जाती है। मनुष्य के मन में जो अनैतिक भावनाओ का दमन होता है उसका ज्ञान स्वय उस व्यक्ति को नहीं होता जिसके मनमे यह दमन होता है। अर्थात् मनुष्य के चेतन मन को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसकी कौन सी प्रबल वासना को कौन सा नैतिक भाव दमन कर रहा है। दमन की क्रिया जटिल होने के कारण ही मनुष्य के मानसिक रोगों को नष्ट करना बड़ा कठिन होता है।

अचेतन मन की विशेषताओं को समझने का एक बड़ा अच्छा साधन मनुष्य के स्वप्न हैं। हम सभी लोग स्वप्न देखते हैं परन्तु हममें से विरले ही व्यक्ति ने इस बात पर विचार किया है कि हमें विशेष प्रकार के स्वप्न क्यों होते हैं। हम अपने बहुत से स्वप्न जागते ही भूल जाते हैं। स्वप्न की घटनाओं के संबंध में जो कुछ स्मरण रहता है उसका हम अपने सामान्य जीवन की घटनाओं से कोई संबंध नहीं पाते। हम अपने बहुत से स्वप्नों में पहाड़ से गिरना, आकाश में उड़ना, नदी मे तैरना, किसी पीछा करने वाले व्यक्ति से अपनी जान बचाने की चेष्टा करना, किसी अनजाने देश में विचरना आदि दृश्य देखते हैं। बहुत से लोगों को चूहे, साँप, छुछूँदर आदि के स्वप्न होते हैं। कभी-कभी स्वप्नों में छोटे बच्चों को जानवरों के खिलौनों सा देखते हैं। फ्रायड महाशय का कथन है कि इन सब स्वप्नों का अर्थ मनुष्य की दबी हुई वासना में पाया जाता है। जिस व्यक्ति की नैतिक भावना बहुत प्रबल नहीं होती, उसके स्वप्न सीधी रीति से उसकी इच्छाओं को व्यक्त करते हैं। जिसकी नैतिक भावना प्रबल होती है, जिसकी दबी वासना नैतिकता के प्रतिकूल होती है, उसके स्वप्न अनेक प्रकार का आवरण लिये रहते हैं। इन स्वप्नों में मनुष्य की अतृत वासना सीधे रूप से प्रकाशित न होकर किसी प्रकार का स्वाँग रचकर प्रकाशित होती है। मान लीजिए, किसी लड़की को बाजार मे घूमते समय रसगुल्ला खाने की इच्छा हुई,

परन्तु अपने पिता के पास पैसा न रहने के कारण वह अपनी इच्छा को सतुष्ट न कर सकी। अब वह रात को अपने स्वप्न मे अपने आप को मनमानी मिठाई खाते पाती है। फ्रायड महाशय एक बार एक बालिका को नौका-विहार के लिए ले गये थे। वह देर तक नौका-विहार करना चाहती थी, परन्तु वे उसे जल्दी से ही घर ले आये। दूसरे रोज जब वह सोकर उठी तो उसने फ्रायड महाशय से कहा कि मैंने आज खूब नौका विहार किया। एक विद्यालय के एक छात्र को एक बड़े टूर्नामेन्ट में अपनी फुटबाल टीम के साथ जाने का अवसर नहीं दिया गया। जबतक वह टीम वापस नहीं आई तबतक वह छात्र अपने स्वप्न में अपने आपको टूर्नामेन्ट में खेलते हुए पाता था। स्वप्न के दृश्यों की उत्तेजना कभी-कभी इतनी प्रबल होती थी कि वह जोर-जोर से "आगे जाओ" "आगे जाओ" "गोल" ये शब्द चिल्ला उठता था।

ऐसे स्वप्न मनुष्य की दबी हुई इच्छा को सीधे रूप मे व्यक्त करते हैं। इनमे नैतिकता के विरुद्ध कोई बात नहीं रहती। इस प्रकार के स्वप्नों की भावना स्मरण करने पर मनुष्य को आत्म-ग्लानि नही होती। आत्म-ग्लानि उत्पन्न करने वाले स्वप्न बड़े ही छिपे ढंग से प्रकाशित होते हैं और मनुष्य को जागने पर याद भी नहीं रहते। जब बड़े प्रयत्न के बाद मनुष्य उन्हें याद करता है तो स्वप्न का वह भाग भूल जाता है जिसमें दबी हुई वासना का रहस्य छिपा हुआ है। फ्रायड महाशय का कथन है कि मनुष्य की सब से प्रबल वासना काम-वासना है और उसकी नैतिक भावना इसी वासना का सबसे अधिक दमन करती है। इसी कारण मनुष्य के अधिक स्वप्न काम-वासना को ही अनेक रूप से प्रकाशित करते हैं। आकाश में उड़ने के स्वप्न, पानी पर चलने अथवा तैरने के स्वप्न, सीढ़ी से चढ़ने अथवा उतरने के स्वप्न, किसी से पीछा किये जाने के स्वप्न, काम-वासना के छिपे रूप से तृप्त करने के उपाय हैं। चूहे, साँप, छुछूँदर, गुफा, खोह आदि के स्वप्न जननेन्द्रिय के प्रतीक हैं। इसी प्रकार जानवरों तथा मनुष्यों के बच्चों के स्वप्न कामवासना के प्रतीक हैं।

फ्रायड महाशय ने मनुष्यों के स्वप्नों का विश्लेषण कर, एक नया विज्ञान स्थापित कर दिया है। यदि हम फ्रायड महाशय के विचार को मानें तो देखेंगे कि मनुष्य उतना पवित्र नहीं है, जितना वह अपने आपके समझता है। उसकी पवित्रता के पीछे विषय-लोलुपता छिपी रहती है और उसकी उदारता के पीछे स्वार्थपरता। मनुष्य अपने आपको धोखा देने के भी अनेक उपाय रच लेता है। यह हम मनुष्य के स्वप्नों में देखते हैं। मनुष्य की दबी हुई वासना स्वप्न में इस प्रकार प्रकाशित होती है जिससे वह नैतिक बुद्धि के द्वारा पहचानी न जा सके।

इसका एक उदाहरण मेरे पास है। मेरे एक मित्र ने अपने एक स्वप्न की बात कही। उसने स्वप्न मे देखा कि कोई व्यक्ति एक अट्ठारह वर्ष की युवती को गंगाजी में डूबने से बचा कर किनारे पर लाता है। वह युवती अचेतन अवस्था में घाट पर पड़ी हुई है। उसके सभी अंग-प्रत्यंग दिखाई देते हैं। स्वप्न मे युवती को घाट पर लाने वाले व्यक्ति का चेहरा नहीं दिखाई देता। वह नहीं जानता की वह कौन है। स्वप्न देखते-देखते आँख खुल जाती है।

इस मित्र की जीवन-चर्या सुनते-सुनते यह ज्ञात हुआ की आज से पन्द्रह सोलह वर्ष पूर्व गंगाजी में डूबने की एक ऐसी ही घटना हुई थी, जैसी स्वप्न में दिखाई दी। उस समय उक्त मित्र ने उस लड़की को उसकी अचेतनावस्था में अपनी मोटर कार में डालकर अस्पताल पहुँचाया था। मित्र अपनी युवावस्था मे था। उस लड़की को देखकर उनके मन मे कुछ काम वासना के भाव भी आये थे। ये भाव बहुत ही निन्द्य होने के कारण दबा दिये गये और उनका तबसे विस्मरण हो गया। यही दबे हुए भाव निर्दोष स्वप्न के रूप मे अनायास प्रकाशित हो गये। यहाँ यह कह देना ठीक होगा कि जिस व्यक्ति को वे देख नहीं पाते थे और जिसने युवती की जान बचाई थी वह व्यक्ति आप ही थे।

मनुष्य के अचेतन और चेतन मन में अनेक प्रकार का विरोध रहता है। फ्रायड महाशय का कथन है कि जो मनुष्य अपनी जाग्रतावस्था में जितनी अधिक नैतिकता का प्रदर्शन करता है, उसके अचेतन मे उतनी ही अधिक विषय-लोलुपता और कामुकता रहती है।

जो कार्य भोगी और कामी लोग अपनी जाग्रतावस्था में करते हैं वही कार्य कठोर नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति साधु महात्मा अपनी अचेतनावस्था में करते हैं। इसलिये भोगी लोगों के स्वप्न उतने अधिक बुरे नहीं होते जितने इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण रखने वाले व्यक्तियों के होते हैं। जिस मनुष्य मे जितना ही अहंभाव प्रबल होता है, वह अपने आप को उतना ही अधिक धोखा देता है। बहुत से लोग अपनी बातचीत में बड़ी विनय दिखाते हैं। जब यह विनय का भाव एक सीमा से बढ़ जाय तो हमें समझना चाहिये कि यह उसके विरोधी भाव का आवरण मात्र है। स्वयं मनुष्य को अपनी अचेतन इच्छा का ज्ञान नहीं रहता। जो मनुष्य बात-बात में कहे कि मैं बड़ा मूर्ख हूँ, बड़ा झूठा हूँ अथवा मैं बड़ा अनुदार हूँ वह अपने आप को भीतरी मन से बड़ा, बुद्धिमान सच्चा, और उदार मानता है। यदि ऐसे किसी व्यक्ति को जो अपने आप को झूठा कहता है एकाध बार कह दिया जाय कि यह तो बात सच है तो वह चिढ़ जायगा। जब कोई मनुष्य दूसरों के सामने कहता है कि मैं बड़ा मूर्ख हूँ तो वह यह सुनने की

इच्छा रखता है कि, नहीं भाई तुम बड़े बुद्धिमान हो।' यदि वह कहता है कि मैं बड़ा ढोंगी हूँ तो वह यह सुनने की इच्छा रखता है कि मैं वह बड़ा सच्चा है। वास्तव में मनुष्य का अचेतन मन निन्दा का नहीं अपितु प्रशंसा का इच्छुक है। और अपने आप को निन्दा का पात्र सिद्ध करना आत्म-प्रशंसा का एक नया उपाय है।

जब तक मनुष्य का अचेतन मन किसी न किसी प्रकार अपनी इच्छाओं की तृप्ति पाते रहता है तब तक मनुष्य के जीवन में साम्य और स्वास्थ्य रहता है। परन्तु जब उसकी इच्छाओं का अवरोध होता है तो वह मनुष्य के शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को बिगाड़ देता है। हमारी प्रबल अतृप्त इच्छा हमे आगे बढ़ने से रोक देती है। अनेक प्रकार के अकारण भय चिन्तायें इसी के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। मेरे एक छात्र को जब वह पढ़ने बैठता है यह विचार सताता है कि वह इम्तहान में फेल हो जायगा कभी-कभी पुस्तक हाथ में लेते ही उसके मन में यह विचार आता है कि तुम मत पढ़ो। इस विचार से वह कभी-कभी घबड़ा उठता है। इस छात्र के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके मनमें प्रबल अतृप्त काम वासना है। उसका प्रेम सम्बन्ध किसी एक ऐसे व्यक्ति से है जिसके साथ प्रेम रखना उसकी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल है। वह अपनी वासना को भुला देने की चेष्टा करता रहा। इसके परिणाम-स्वरूप उसकी अन्य प्रकार की प्रगति रुक गई।

अचेतन मन जिस काम को करना चाहता है उसे मनुष्य याद रखने में समर्थ होता है। जिसे वह याद नहीं करना चाहता उसे व्यक्ति भूल जाता है। फ्रायड महाशय ने अपनी 'साइको पैथालॉजी आफ एवरीडे लाइफ' नामक पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं जिनमें अचेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल किसी काम को करना अथवा किसी बात को याद रखना अत्यन्त कठिन बताया गया है। एक प्रतिदिन का उदाहरण तो हमारे देखने में आता ही है। यदि हम अपने किसी साथी को एक बन्द लिफाफा लेटरबक्स में डालने को दे दें तो सामान्यतः वह इस काम को करना भूल जाता है। कई बार हमारी जेब में तीन चार दिन तक दूसरों की दी हुई चिट्ठियाँ जिन्हें हमे तुरन्त ही लेटर बाक्स मे डाल देना चाहिये था पड़ी रहती हैं। जिन पत्रों का हम भीतरी मनसे उत्तर नहीं देना चाहते, उनका उत्तर देना हमें याद नहीं रहता। यदि अचेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल हम किसी काम को करे तो उसमे अनेक भूले होती हैं। कभी-कभी ऐसे काम करते समय मनुष्य कुछ शारीरिक चोट भी पा लेता है।

फ्रायड महाशय ने अचेतन मन की खोज मानसिक रोगियों की चिकित्सा

करते हुए कर ली। मनुष्य के ऐसे बहुत से मानसिक रोग होते हैं जो शारीरिक पीड़ाओं का रूप धारण कर लेते हैं परन्तु जिनका कारण शारीरिक नहीं होता। शरीर में किसी प्रकार की त्रुटि न होते हुए भी बहुत से लोग शारीरिक पीड़ा का अनुभव करते हैं। बहुत से रोगियों को इसी प्रकार लकवा, दमा, सिर की पीड़ा, और वमन का रोग हो जाता है। ये सब रोग अचेतन मन की इच्छा के दमन के परिणाम हैं। दमन से मनुष्य का अचेतन मन क्रुद्ध हो जाता है और फिर वह मनुष्य के चेतन मन को अर्थात् उसके स्वत्व को अनेक प्रकार की यंत्रणा देने लगता है। इन यंत्रणाओं के प्रकार और विशेष कारण को खोजने से पता चलता है कि मनुष्य की जैसी वासना होती है वैसा ही उसका रोग होता है। इस वासना का पता उसके स्वप्न के अध्ययन से चलता है। क्योंकि स्वप्न मे ही हम अपने अचेतन मन का अधिक से अधिक स्वरूप देखते हैं। अपने स्वप्न को भली प्रकार से समझ जाना अपने अचेतन मन को भली प्रकार से समझना है।

फ्रायड महाशय ने अचेतन मन का जो स्वरूप हमे दिखलाया है उसके ज्ञात होने पर हमें मनुष्य के बहुत से आचरणों का नये प्रकार से मूल्यांकन करना पड़ेगा। जो लोग अपने जीवन में धर्म के प्रति अत्यधिक लगन दिखाते हैं यदि उनके अचेतन मन को खोल कर देखा जाय तो पता चलेगा कि यह लगन कोरा ढोंग है। समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये इसे मनुष्य ने एक उपाय बना लिया है। अत्यधिक विनय शीलता घोर अभिमान का आवरण है अत्यधिक दयालुता निठुरता के ढाँकने का उपाय है। मनुष्य का अचेतन मन न तो इतना विनम्र है और न वह इतना उदार है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति को अपने से बड़ा समझे अथवा वह दूसरे के सुख के लिये अपने सुख का सर्वथा त्याग कर दे। वह धार्मिकता को और नैतिकता को वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक ये उसकी आन्तरिक इच्छा के प्रतिकूल नहीं जातीं। जब ये उसकी इच्छा के प्रतिकूल जाने लगतीं है तो मनुष्य के मनमें भारी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है यही मानसिक रोग की अवस्था है।

जब मनुष्य आन्तरिक इच्छाओं को जानकर उन्हें स्वीकार कर लेता है और उनका अपनी नैतिक भावना से समन्वय स्थापित कर लेता है तो उसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है। इस समन्वय के लिये छिपी वासनाओं की खोज की आवश्यकता होती है। इस खोज और स्वीकृति के कार्य में मानसिक चिकित्सक अथवा मनोविश्लेषक की सहायता नितान्त आवश्यक है। यदि किसी मनुष्य को ऐसा कोई मित्र हो जिसके सामने वह अपने हृदय के सभी बुरे अथवा भले भावों को खोलता रहे तो उसे कोई मानसिक रोग न हो। जब कोई मानसिक चिकित्सक

ऐसे ही मित्र के रूप में आता है तभी वह रोगी का सच्चा लाभ करता है। जब रोगी को चिकित्सक के प्रति मैत्री भावना अथवा श्रद्धा नहीं रहती तो उसकी अचेतन वासना उसके समक्ष नहीं आती और उसका रोग भी अच्छा नहीं होता।

फ्रायड महाशय ने कामवासना का क्षेत्र बड़ा व्यापक बताया है। काम वासना न केवल मनुष्य के मानसिक रोगों, स्वप्नों और उसके असाधारण व्यवहारों का कारण है वरन् उसके सामाजिक व्यवहारों, विशेष प्रकार के रीति-रिवाजों का, धार्मिक भावों का और सभ्यता के विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का भी कारण है। यदि मनुष्य अपनी कामवासना को उसके नग्नरूप में तृप्त करे तो समाज का ही विनाश हो जाय। मनुष्य पशु जैसा खूँखार जानवर बन जाय अतएव उसने कामवासना को नियंत्रित करके उर्ध्वगामी बनाने की चेष्टा की है। धर्म और सभ्यता के प्रतीक काम वासना के उर्ध्वगमन के परिणाम-स्वरूप हैं। कविता कला, संगीत और धर्म में अचेतन मन की अनेक दबी हुई वासनाओं का शोध होता है। परन्तु कभी-कभी ये सभ्यता के अतृप्त काम वासना के छिपे ढंग से प्रकाशित होने के रूप ही बन जाते हैं। तब ये निंद्य होते हैं। कृष्ण-प्रेम, बड़ा सुन्दर भाव है परन्तु जब बहुत से कृष्ण प्रेम मण्डल वासना युक्त कृष्ण-प्रेम के पोषक बन जाते हैं तो वे निंद्य हो जाते हैं। कला और सगीत उपासना के मनुष्य की मूल शक्ति को उर्ध्वगामी बनाते हैं परन्तु यही धनी लोगों की विलासिता का आवरण बन जाते। जब सभ्यता के प्रतीक इस प्रकार स्वार्थी और भोगी मनुष्यों की स्वार्थ-परायणता और भोग वृत्ति का शोधन न कर उनके पोषक बन जाते हैं तो उन्हें अपने नग्न रूप में दिखाना उसी प्रकार आवश्यक हो जाता है जिस प्रकार कि अनेक क्रूरता पूर्ण सामाजिक रूढ़ियों को मनुष्य की शोषण बुद्धि का आविष्कार बताना आवश्यक होता है। इस प्रकार के आत्म-निरीक्षण से मनुष्य के विश्वास और श्रद्धाओं में जो परिवर्तन होते है उनसे नई सभ्यता की सृष्टि होती है।

फ्रायड महाशय ने जो मन के विषय मे नई खोज की है उसके आधार पर आज और भी अनेक खोजें हो रही हैं। प्रो० चार्ल्स युग और डा० होमरलेन, विलियम ब्राउन और हेड फील्ड महाशयों ने फ्रायड के विचारो को आगे बढ़ाया है। फ्रायड के विचार बहुत कुछ क्रांतिकारी और ध्वंसात्मक है। प्रो० युग और ब्राउन आदि महाशयों के विचार रचनात्मक हैं। परन्तु यदि फ्रायड मनुष्य के अचेतन मन की ओर समाज के चिन्तनशील मनुष्यों का ध्यान न ले जाते तो सभ्यता के क्षेत्र में वह रचनात्मक कार्य न होता जो आज युंग, ब्राउन, हेड फील्ड आदि महाशय कर रहे हैं।

मानसिक ग्रन्थियाँ

आधुनिक काल में भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में बड़े महत्त्व के आविष्कार हो रहे हैं। इन आविष्कारों के परिणामस्वरूप मनुष्य की शक्ति बेहद बढ़ गई है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान प्रगति कर रहा है, मनोविज्ञान भी उसी प्रकार उन्नति कर रहा है। जहाँ भौतिक विज्ञान का ध्येय नई-नई खोजों द्वारा मनुष्य को समृद्धि-शाली बनाना है वहाँ मनोविज्ञान का ध्येय मनुष्य को सुखी और शान्त बनाना है। वर्तमान काल की सबसे महत्त्व की मनोवैज्ञानिक खोज मानसिक ग्रन्थियों की खोज है। यह खोज जितनी नई है उतनी पुरानी भी है। उपनिषदों में हृदय-ग्रन्थि की चर्चा आती है। हृदय-ग्रन्थि के रहने पर ही दुःख-मूलक संसार रहता है और उसके खुल जाने पर मनुष्य तत्त्वदर्शी बन जाता है। उसे निर्वाण अथवा आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मानसिक ग्रन्थियों की खोज आधुनिक काल में वियना के डाक्टर फ्रायड ने की है। उनका कथन है मनुष्य का मन कई स्तरों का बना हुआ है। हम अपने जितने मन को जानते हैं वह मन का ऊपरी भाग ही है। यह भाग समुद्र की सतह के समान है। इसके नीचे हमारा गंभीर मन है। मानसिक ग्रन्थियाँ इसी अदृश्य मन में रहती हैं।

मानसिक ग्रंथियाँ किसी प्रबल आवेग के दमन से उत्पन्न होती हैं। हमारे मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ, उमंगें और भावनाएँ उठा करती हैं। जो भावनाएँ हमारी चेतना पर आ जाती हैं वह अपना खेल दिखाकर शान्त हो जाती हैं फिर वह हमारे ज्ञात व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं। वे उसे बली बनाती हैं। जिन भावनाओं, इच्छाओं अथवा उमंगों को प्रकाशन का अवसर नहीं दिया जाता, वे मनुष्य के अचेतन मन में चली जाती है और वहाँ रहकर मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रतिकूल षड्यन्त्र रचा करती हैं। एक दलित भावना अथवा इच्छा दूसरी अनेक दलित भावनाओं अथवा इच्छाओं से अपना मेल जोड़ लेती हैं। इस तरह ये भावनायें मनुष्य के मन के भीतर एक ग्रंथि अथवा गुट के रूप में संघटित हो जाती हैं। फिर वे मनुष्य के व्यक्तित्व का बल घटाने में लगी रहती हैं। ये ग्रंथियाँ मनुष्य के जीवन के अनेक प्रकार के कार्यों में बाधा डालती रहती हैं। ये मनुष्य के मन को सदा अशान्त बनाये रहती हैं। जब ये ग्रन्थियाँ अधिक प्रबल हो जाती हैं तो वे मनुष्य की विचार-शक्ति और उसके विवेक को नष्ट कर

देती हैं। मनुष्य को विवेकहीन होकर पशु - जैसा आचरण करने के लिये विवश कर देती हैं। मनुष्य के मन की यह अवस्था विक्षिप्तता कहलाती है।

अनेक प्रकार के मानसिक रोग जैसे विषाद, हिस्टीरिया, किसी प्रकार की झक, बाध्य-विचार, सांकेतिक चेष्टाएँ, जैसे हाथ का बार-बार धोना, बार-बार मुँह पर हाथ फेरना, ओंठों का काटना, नाखून चबाना, जाँघों को हिलाना आदि मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति के कारण होते हैं। कितने ही लोगों को सफाई की इतनी झक रहती है कि वे दिन भर घर को धोते रहते हैं, धोबी के धुले कपड़ों को फिर से धुलाते हैं। बाहर से घूम कर आने पर चप्पलों को भी पानी से धोते हैं, बाजार की प्रत्येक चीज को धोकर घर में रखते हैं, यहाँ तक कि गेहूँ भी धोकर घर में रखे जाते हैं। यह सब व्यापार मानसिक ग्रन्थियों के कारण होते हैं। मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति रहने पर मनुष्य किसी भी मूर्खता पूर्ण काम में अपना सारा समय लगा देते हैं। वह अपने कामों को विवेकयुक्त ही मानता है। दूसरों को भी वह नई-नई युक्तियाँ देकर युक्तिसंगत बताने की चेष्टा करता है। मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति में मनुष्य बड़ा हठी, अहंकारी और दम्भी बन जाता है। उसका विनय और शील भी एक ढोंग-मात्र होता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से वह आत्म-विनाश कर लेता है।

मानसिक ग्रन्थियों को समझने के लिये किसी देश की राज-व्यवस्था और उसके अन्दर रहनेवाले विभिन्न दलों की बनावट को ध्यान में रखना आवश्यक है। मनुष्य का मन और समस्त राष्ट्र का मन एक ही प्रकार के होते हैं। अतएव एक को समझने से दूसरे को समझने में सहायता मिलती है। किसी देश की राजसत्ता मनुष्य के चेतन मन के समान है। देश की सामान्य जनता अचेतन मन का प्रतिरूप है और देश में रहनेवाले विभिन्न दल मनुष्य के स्थाई भाव और मानसिक ग्रन्थियों के समान हैं। जिस प्रकार अपना आत्म-प्रकाशन पानेवाला राजनैतिक दल राजसत्ता के साथ सहयोग करता है और उसका बल बढ़ता है उसी प्रकार जो भावना अपने आत्म-प्रकाशन का अवसर पाती है वह मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बढ़ाती है। वह उसके विरुद्ध षड्यन्त्र नहीं करती। परन्तु जैसे किसी राज्य में आत्म-प्रकाशन का अवसर न पाने वाला दल राज-सत्ता के विरुद्ध षड्यन्त्र करता है और अपना अलग संगठन तैयार कर लेता है उसी प्रकार मनुष्य की दबी हुई भावनायें मनुष्य के व्यक्तित्व के विरुद्ध षड्यन्त्र करती हैं। वे मानसिक ग्रन्थियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं और फिर मनुष्य की चेतना को अनेक प्रकार से त्रास देती हैं। जब चेतना इनके षड्यन्त्रों से त्रस्त और शक्तिहीन हो जाती है तो ये भावनायें खुलेआम मनुष्य के आचरण में प्रकाशित होने लगती हैं।

मानसिक ग्रन्थियाँ प्रिय पदार्थ को अप्रिय और अप्रिय को प्रिय बना देती हैं। ये मनुष्य की बुद्धि को उलझन में डाल देती हैं। इनके कारण मनुष्य को सही और गलत नहीं सूझ पड़ता। ग्रन्थियाँ मनुष्य का जीवन एकाङ्गी बना देती हैं। सभी प्रकार के मानसिक रोगों का कारण मानसिक ग्रन्थियाँ होती हैं।

मनुष्य में चिन्तन करने की शक्ति है। इसके कारण वह संसार के सभी प्राणियों का स्वामी बना हुआ है। जब मनुष्य भला चिन्तन करता है तो वह अपने सम्पर्क में आने वाले हजारों लोगों को सुखी बना देता है और जब वह कुचिन्तन करने लगता है तो हजारों लोग उससे दुःखी हो जाते हैं। शुभचिन्तन से हमारी आत्मा का प्रसार होता है और कुचिन्तन से वह संकुचित होती है। कुचिन्तन ही मानसिक ग्रन्थियों के बनने का कारण है।

मनुष्य की मानसिक ग्रन्थियाँ उसे स्वयं ज्ञात नहीं रहतीं। अज्ञात रह कर भी निष्क्रिय नहीं रहतीं। वे मनुष्य के चिन्तन और आचरण को विशेष प्रकार का बना देती हैं। मान लीजिए किसी बालक को उसके पिता के प्रति एक द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह जब बड़ा होता है तो अपनी इस दुर्भावना को भूल जाता है। उसकी नैतिक बुद्धि उसे यह स्वीकार भी नहीं करने देती कि उसके मन में पिता के प्रति द्वेष की भावना है। जब यह बालक स्कूल में जाता है तो यह मानसिक ग्रन्थि बालक को शिक्षक से भयभीत बनाये रखती है, अर्थात उसके अपने पिता के प्रति शुभ अशुभ भाव शिक्षक के ऊपर आरोपित हो जाते हैं। जो बालक पिता के प्रति श्रद्धा नहीं रखता वह अपने शिक्षक के प्रति भी श्रद्धा का भाव नहीं रख सकता। फिर शिक्षक के प्रति द्वेष की मनोवृत्ति शिक्षक के द्वारा पढ़ाये गये विषयों पर भी आरोपित हो जाती है। इसके कारण बहुत से बालक अपने पिता से मिलते-जुलते अध्यापक द्वारा पढ़ाये गये पाठ को याद नहीं कर पाते। बहुत से अपराधी और उद्दण्ड बालकों के दुराचरण का कारण उनके मनमें उपस्थित मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं।

मानसिक ग्रन्थियाँ किसी व्यक्ति के प्रति, किसी पदार्थ के प्रति, किसी विचार के प्रति, अथवा अपने आपके ही प्रति बन जाती हैं। ये एक प्रकार के अस्वस्थ स्थाई भाव हैं। हमारे मनमें अनेक प्रकार के प्रेम अथवा घृणा के स्थाई भाव रहते हैं। हम जिसको भला समझते हैं उससे प्रेम करते हैं और जिसको बुरा समझते हैं उसको घृणा करते हैं। हमारे इस प्रकार के अनुभव हमारे स्वभाव के अंग बन जाते हैं। स्वस्थ स्थाई भावों को हम स्वीकार करते हैं। हमें उनकी उपस्थिति का अभिमान रहता है। मान लीजिए हम किसी महात्मा को आदर की दृष्टि से देखते हैं। हम इस प्रकार के भाव को बुरा नहीं मानते और उसे स्वीकार

कर लेते हैं। परन्तु यदि हम उसी महात्मा को घृणा की दृष्टि से देखे तो हम जल्दी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। अपने पिता के प्रति घृणा का भाव कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। ऐसी स्थिति मे हमारा स्थाई भाव मानसिक-ग्रन्थि के रूप में हमारे भीतरी मन मे रहा आता है। जब किसी मनुष्य के मन मे विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि रहती है तो वह अधिकतर अपनी भीतरी भावनाओं के प्रतिकूल आचरण करता है।

मनुष्य जितना धोखा अपने आपको देता है उतना वह किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं देता। कभी-कभी प्रबल विषय भोग की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति, साधु, तपस्वी, ब्रह्मचारी के रूप में संसार के सामने आते हैं। लम्बे-लम्बे व्रत विषय-भोग के प्रति उदासीनता के परिचायक नहीं, वरन उसके प्रति अत्यधिक आशक्ति सूचित करते हैं। यही कारण है कि संसार के प्रमुख धर्म-शिक्षकों ने एकान्तता का जीवन अनर्थमूलक कहा है। भगवान बुद्ध और कृष्ण दोनों ने ही घोर तपस्या करना बुरा माना है।

जब मनुष्य के मन मे ग्रन्थियाँ रहती हैं तो वह आत्म-निरीक्षण करने में असमर्थ रहता है। उसे बड़ा अभिमान होता है, वह दूसरों की शिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहता। उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ आसपास के लोगों पर आरोपित होकर प्रकाशित होती हैं। अपने आपसे घृणा करनेवाला व्यक्ति दूसरों को उससे घृणा करते देखता है और इससे फिर वह उनको भी घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

इस तरह जो व्यक्ति अपने आपमें दुखी है वह अपने आस-पास ऐसे वातावरण का निर्माण कर लेता है जिसमे उसे दुःख मिला करे। भीतर का दुःख बाहर के दुःख मे परिणत हो जाता है। यदि मानसिक ग्रन्थियोंवाले लोगोंको एकान्त में रख दिया जाय तो वह आत्महत्या ही कर लें। वे जितने दूसरों से दुःखी रहते हैं उससे कहीं अधिक अपने आपसे दुःखी रहते हैं।

आज संसार के राजनीतिज्ञ शान्ति स्थापन करने मे संलग्न हैं। परन्तु जब तक इन राजनीतिज्ञों के मन द्वेष की मानसिक ग्रन्थियों से स्वच्छ नहीं होते तब तक वे संसार मे शान्ति कैसे स्थापित कर सकते हैं? जब मनुष्य का मन सुलझे तो संसार की समस्याएँ सुलझें। मनुष्य का मन ही तो समस्याओं को बनाता है। यदि मनुष्य अपने मन की ग्रन्थियों को जान ले और फिर उन्हें धैर्य पूर्वक सुलझा लेवे तो उसे संसार में कोई शत्रु ही दिखाई न दे। मनुष्य का शत्रु और मित्र अपना आप ही है। सुलझा मन उसका मित्र है और उलझा मन उसका शत्रु।

मानसिक रोग और नैतिकता

सभ्यता व्यक्ति की बुद्धि की वृद्धि का परिणाम है। बुद्धि के बढ़ने के साथ-साथ विज्ञान में वृद्धि होती है। विज्ञान व्यक्ति को बाह्य-प्रकृति पर विजय पाने का उपाय बताता है, परन्तु विज्ञान व्यक्ति को अपने आप पर विजय करने का सामर्थ्य नहीं देता। जब तक व्यक्ति अपने मन का उसी प्रकार ज्ञान नहीं कर लेता, जिस प्रकार वह बाह्य-जगत के पदार्थों का ज्ञान करता है, तब तक उसमें अपने आपको नियंत्रण में लाने की क्षमता नहीं आती। जब व्यक्ति में आत्म-नियंत्रण नहीं रहता, तभी उसे मानसिक रोग होता है।

व्यक्ति में आत्म-नियंत्रण की शक्ति धीरे-धीरे आती है। जिन बालकों को समय के पूर्व ही अत्यधिक नैतिकता सिखा दी जाती है, वे वास्तविक संयमी न बनकर मानसिक रोगी बन जाते हैं। व्यक्ति की सभी प्रारम्भिक इच्छाएँ स्वार्थ-मयी रहती हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति होने पर उदार भावनाओं का स्वत ही विकास होता है। जब व्यक्ति मे उदारता, सहनशीलता और सद्‌भाव का विकास सहज भाव से होता है, तब वह स्थिर रहता है। परन्तु जब किसी व्यक्ति में इन भावों को समय के पूर्व ही डाला जाता है, तो वे उसके स्वभाव में अपनी जड़ नहीं जमाते। वे ऊपर ही ऊपर रह जाते हैं। नैतिकता जब व्यक्ति की प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर आधारित रहती है; जब वह अनुभव के परिपक्वता के साथ आती है, तब वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को बली बनाती है। जब किसी व्यक्ति मे नैतिकता बाहर से लादी जाती है, तब वह व्यक्ति के मन मे अन्तर्द्वन्द की अवस्था उत्पन्न करती है। कठोर नैतिकता में जिन लोगों का बचपन बीता है, उन्हें मानसिक रोग सरलता से हो जाता है।

मानसिक रोग की अवस्था में व्यक्ति की इच्छा-शक्ति दुर्बल रहती है। इस दुर्बलता का कारण उसके मन में चलने वाला आन्तरिक संघर्ष रहता है। इस संघर्ष का सम्पूर्ण ज्ञान स्वयं मानसिक रोगी को नहीं रहता। वह इस संघर्ष के परिणाम मात्र को, मानसिक रोग के रूप में देखता है। मानसिक संघर्ष व्यक्ति की चेतना की सतह के नीचे चलता है। रोगी में संघर्ष के निराकरण की क्षमता

नहीं रहती। संघर्ष करने वाली प्रवृत्तियाँ एक ओर नैतिक और दूसरी ओर प्राकृतिक रहती हैं। व्यक्ति की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उसकी नैतिक भावना द्वारा दबाए जाने के कारण, प्रकाश में नहीं आती। परन्तु दबाए जाने से ये प्रवृत्तियाँ निर्बल न होकर और प्रबल हो जाती हैं। फिर ये अपने प्रकाशन का योग्य मार्ग जब नहीं पातीं तो अयोग्य मार्ग से ही प्रकाशित होती हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियों का विकृत होकर अयोग्य मार्ग से प्रकाशित होना ही रोग है।

मानसिक रोगी को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ विकृत होकर मानसिक रोग के रूप में प्रकाशित हो रही हैं। प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोग प्रतीक रूप से दबी हुई वासना को चेतना की सतह पर लाता है। जब व्यक्ति की नैतिकता कठोर होती है, तब उसका मानसिक रोग भी जटिल होता है। ऐसे रोग का उपचार करना भी इसलिये कठिन होता है कि वह दूसरे प्रतीकों द्वारा सरलता से प्रकट नहीं होता। जो दबी हुई वासना रोग के रूप में प्रकट होती है, वही स्वप्न में, व्यक्ति के असाधारण व्यवहारों में, उसकी भूलों में, और उसके बोल चाल में प्रतीक रूप से प्रकट होती है। इन प्रतीकों को पहचानकर रोग का उपचार किया जा सकता है। जब दमन की प्रणाली बहुत कठिन हो जाती है, तब रोगी को अपने स्वप्न याद ही नहीं रहते और यदि याद रहते हैं तो इस प्रकार के परिवर्तित रहते हैं कि उनका कोई अर्थ ही नहीं लगाया जा सकता। हर एक व्यक्ति की नैतिकता दो प्रकार की होती है, एक वास्तविक और दूसरी दिखावटी; व्यक्ति की वास्तविक नैतिकता से उसको लौकिक लाभ नहीं होता। इस प्रकार की नैतिकता के कारण व्यक्ति को अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है और उसे अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। संसार में ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा बहुत थोड़े लोग करते हैं; अधिक लोग उसकी निन्दा ही करते हैं। सुकरात को अपनी वास्तविक नैतिकता के लिये विष का प्याला पीना पड़ा था और ईसा को इसी कारण शूली पर चढ़ना पड़ा था। जब समाज में अधर्म, अन्याय फैला रहता है; जब समाज के धनी और अधिकारी पुरुष अनुचित कामों को करने लगते हैं और उनका अनुकरण करके समाज के साधारण व्यक्ति भी उचित, अनुचित का विचार करना भूल जाते हैं, तब ऐसे किसी व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो इस प्रकार के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाये और बिगड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था को सुधारने की चेष्टा करे। ऐसे व्यक्ति को बड़ी हिम्मत की आवश्यकता होती है। समाज के प्रबल अन्यायी लोगों के विरोध करने से व्यक्ति अपने प्राणों तक को खो सकता है। इसी प्रकार का कार्य करना वास्तविक नैतिकता है। इस प्रकार की सच्ची नैतिकता की कसौटी प्रशंसा की

अभिलाषा न रखते हुये, समाज हित के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहना है। जो व्यक्ति इस तरह सच्चा नैतिक होता है, उसकी इच्छा-शक्ति दृढ होती है। वह अपने निश्चय से अडिग रहता है। वह कठोर से कठोर कामों को शान्ति-भाव से करता है। ऐसे व्यक्ति को मानसिक रोग नहीं होते। सच्ची नैतिकता से प्रेरित होकर छोटे से भी छोटा काम करना भावी मानसिक रोगों के प्रतिकार रूप 'प्रिमीयम' चुकाना है।

किसी प्रकार के अनैतिक कार्य करने से व्यक्ति का मन दुर्बल होता है। जब यह मानसिक दुर्बलता बाहरी मन से भीतरी मन में चली जाती है तब व्यक्ति को अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। मानसिक रोगी दुर्बल इच्छा-शक्ति का व्यक्ति होता हैं, परन्तु साधारणतया उसको अपनी इस दुर्बलता का ज्ञान नहीं रहता। काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, और लोभ के भावों में वह नाना, मानसिक दुर्बलता को व्यक्त करता है। जिस व्यक्ति की इच्छाशक्ति-दुर्बल होती है वह विवेकशून्य होता है। वह नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है। इस प्रकार के आचरण से उसे कभी-कभी आत्म-ग्लानि होती है। इस आत्म-ग्लानि की पीड़ा से बचने के लिये व्यक्ति उस घटना को ही भूलने की चेष्टा करता है जिससे वह किसी मनोवेग में बह गया था। बार बार इस प्रकार के प्रयत्न के करने से वह अपने इस आत्म-विस्मृति के कार्य मे सफल हो जाता है, परन्तु अब इस व्यक्ति का अवाञ्छनीय मनोवेग चेतना के स्तर से हटकर, चेतना के नीचे पहले जैसा ही कार्य करने लगता है। इसे प्रकट होने से रोकने के लिये, व्यक्ति कठोर नैतिक धारणाओं को अपनाता है। ये नैतिक धारणाये भी उसकी चेतना की सतह के नीचे विस्मृति, मनोवेग को दबाने में कार्य करने लगती हैं। इस प्रकार व्यक्ति एक ओर बड़ा ही नैतिक बन जाता है और दूसरी ओर उसकी प्रबल प्रवृतियाँ उसके अनजाने ही उसके मन के गुप्त भाव में सदा क्रियमाण रहती हैं। ये प्रवृतियाँ उसी प्रकार व्यक्ति के स्वभाव की अंग हैं, जिस प्रकार उसकी नैतिकता उसके स्वभाव का अंग है। अतएव इन प्रवृतियों अथवा आवेगों के दमित रहने के कारण व्यक्ति के आन्तरिक मन में भारी असंतोष रहता है। यही असन्तोष, नाना प्रकार से व्यक्ति के जीवन में मानसिक रोग के रूप में प्रकट होता है। यह बनावटी नैतिकता का परिणाम है। बनावटी नैतिकता वह है जो केवल अपने आन्तरिक मन की वस्तु स्थिति को भुलाने के लिये ही धारण की जाती है। ऐसी नैतिकता में व्यक्ति आवश्यकता से अधिक उदार, विनीत, श्रद्धालु और निर्भीक दिखाई पड़ता है। जब किसी व्यक्ति के जीवन में नैतिकता के सद्गुण असाधारण प्रकार से प्रदर्शित हों, तब हमें जानना चाहिये कि उसके आन्तरिक मन में

असन्तोष है, अर्थात्, वह एक प्रकार का मानसिक रोगी है। उसका नैतिक आचरण आत्म-विस्मृति का उपायमात्र है।

जब मानसिक रोग अधिक बढ़ जाता है अर्थात् जब व्यक्ति साधारण विक्षिप्तता से हटकर पागल ही बन जाता है, तब उसमें इच्छा-शक्ति का बल रह ही नहीं जाता। वह विवेक शून्य हो जाता है और उसकी नैतिकता समाप्त हो जाती है। किसी व्यक्ति का पागल होना घोर मानसिक असन्तोष का परिणाम है। जब तक यह असन्तोष चेतना की सतह के नीचे रहता है, व्यक्ति थोड़ा बहुत विक्षिप्त भले ही हो लेकिन वह पागल नहीं होता। जब यह असन्तोष बाहर आ जाता है, तब व्यक्ति पागल हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति की ठोस नैतिकता मानसिक रोगकी विनाशक है और उसकी झूठी नैतिकता व्यक्तिको अपनी वास्तविक कमी को दृष्टि-ओझल करने में सहायक होकर मानसिक रोगों की सृष्टि करती है।

प्रत्येक मानसिक रोगी का मन विभाजित अवस्था में रहता है। उसके आन्तरिक मन और बाहरी मन में सम्पर्क नहीं रहता है। जैसा वह बाहरी मन से है, उससे विरुद्ध उसका आन्तरिक मन रहता है। यदि वह बाहरी मन से शीलवान, सच्चा, सदाचारी और उदार है, तो आन्तरिक मन से वह इनके ठीक विरोधी गुण वाला होता है। जब मनोविश्लेषण-प्रक्रिया से व्यक्ति के बाहरी और आन्तरिक मन में एकता स्थापित की जाती है, तब व्यक्ति की दबी अनैतिक भावनाये अर्थात् प्रवृत्तियाँ चेतना के समक्ष आ जाती हैं और इसके कारण व्यक्ति का जीवन स्तर अत्युच्च न होकर नीचा हो जाता है। अर्थात् व्यक्ति के स्वास्थ्य लाभ करने के पूर्व उसके नैतिक विचार पहले जैसे ऊँचे नहीं रह जाते, परन्तु उसकी इस प्रकार की नैतिकता अब बनावटी नहीं रहती। वह आन्तरिक मन से जैसा है बाहरी मन से वैसा ही दिखाई देने की चेष्टा करता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन के आदर्श बहुत ऊँचे तो नहीं होते, परन्तु व्यवहारिक होते हैं। उसके बाहरी और भीतरी मन में एकता रहती है। ऐसे व्यक्ति के विचार और व्यवहार में एकता रहती है। सम्पूर्ण मन की दृष्टि से ऐसा ही व्यक्ति सच्चा आरोग्यवान कहा जा सकता है।

मानसिक रोगों के उपचार में मनुष्य को नैतिक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बहुत से मानसिक रोगियों को अपनी नैतिकता का अभिमान रहता है, परन्तु उनकी यह नैतिकता उनकी प्रबल भोग-प्रवृत्तियों के दमन करने का एक उपाय मात्र है। इसकी जड़ मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव में नहीं रहती। यह हठवादिता से भरी रहती है, परन्तु यह इच्छा-शक्ति के दिवालियापन का द्योतक है। मनुष्य को मानसिक रोग से मुक्त करने के लिये उसको इस झूठी

नैतिकता के अभिमान से मुक्त करना पड़ता है। जब मनोविश्लेषण द्वारा उसके आन्तरिक मनोभावों का रेचन किया जाता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वह सचमुच मे कैसा व्यक्ति है। इससे उसकी झूठी नैतिकता का अभिमान समाप्त हो जाता है, परन्तु पूरी मानसिक चिकित्सा में मनुष्य की झूठी नैतिकता के अभिमान की समाप्ति के साथ-साथ उसमें ठोस नैतिकता भी आती जाती है। मानसिक चिकित्सक की कुशलता इस बात मे है कि किसी रोगी की झूठी नैतिकता के अभिमान को उतनी ही दूर तक कम करने की चेष्टा करे, जितनी दूर तक उसमें सच्ची नैतिकता जड पकड़ती जाती है। मानसिक रोगी अपनी झूठी नैतिकता के अभिमान को सरलता से नहीं खोना चाहता। यदि वह अभिमान एकाएक खो जाय, तो उसका जीना ही कठिन हो जाय। परन्तु जब वह सच्ची नैतिकता के स्वरूप को पा जाता है, तब वह झूठी नैतिकता को त्याग देता है। इस नैतिकता को पाकर वह अपने रोग से भी मुक्त हो जाता है। मानसिक उपचार मनुष्य की नैतिकता को अन्त में कम नहीं करता, वरन् वह बढाता है और इस प्रकार मानसिक उपचार से मानव समाज का भारी कल्याण होता है।

सभ्यता और मानसिक रोग

आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख पंडितों का कथन है कि जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ती है मानसिक रोगों की वृद्धि भी होती है। बर्बर लोगों में मानसिक रोगों का सर्वथा अभाव तो नहीं होता, परन्तु उन्हें इतने मानसिक रोग नहीं होते जितने सभ्य जाति के लोगों को होते हैं। सभ्यता मनुष्य की इच्छाओं के विकास का परिणाम है। इच्छाओं के विकास से उनकी संख्या बढ़ती है और मनुष्य में आदर्शवादिता भी आती है। इन दोनों बातों से मानसिक रोगों की वृद्धि होती है।

कभी-कभी विद्वान लोग सभ्यता को दो प्रकार की कहते हैं एक भोग-वादी सभ्यता और दूसरी आदर्श-वादी। आधुनिक सभ्यता को भोग-वादी सभ्यता कहा जाता है। इसमे भोगेच्छाओं की बाढ़ है। उनकी तृप्ति के लिये अनेक प्रकार के साधनों की खोज की जाती है। परन्तु जितनी ही इच्छाओं की तृप्ति की जाती है उससे चौगुनी इच्छाओं का जन्म हो जाता है। फिर सुख की सामग्री सीमित रहती है और सभी लोगों को यह सामग्री नहीं मिल पाती। मनुष्य को जितना सुख कुछ भोग-सामग्री मिलकर होता है, उससे कहीं अधिक दुःख उसे अपने आपको दूसरों से कम धनी पाकर होता है। इस दुख का प्रकाशन कभी-कभी सामाजिक और राजनैतिक क्रान्तियों में होता है। जब यह संभव नहीं होता तो मनुष्य का आन्तरिक असंतोष स्वयं उसे ही खाने लगता है। इस प्रकार कितने ही लोगों को दमा, क्षय, पेट और आँख के रोग हो जाते हैं। नित्य प्रति चिंता में रहने पर मनुष्य की स्मृति नष्ट हो जाती है, उसे संसार शत्रु-रूप दिखाई देने लगता है अर्थात् उसे पैरानोइया का रोग हो जाता है, जहाँ देखो उसे निराशा ही निराशा दिखाई देती है। इस प्रकार समाज की क्रूरता के कारण अथवा धनाभाव के कारण कितने ही लोगों को विषादरोग (मेलेन-कोलिया) हो जाता है। मेरे एक मित्र ने बड़े परिश्रम से साहित्य की डाक्टरेट पाई। उनकी पुस्तक की प्रशंसा खूब हुई। इससे उनका मन बहुत बढ़ गया। परन्तु उनकी आशा के अनुसार उन्हें पद न मिला। उन्हें विद्वान् होकर भी गरीब ही रहना पड़ा। इससे वे समाज को क्रूर और अन्यायी मानने लगे। कुछ दिन बाद उन्हें भय हो गया कि सारा समाज उनके विरुद्ध प्रचार कर रहा है। वे अपने मित्रों को भी अपना शत्रु मानने लगे। इस प्रकार पैरानोइया के रोग से उनका शरीरान्त हो गया। जब मनुष्य की आकांक्षाओं और प्राप्ति मे अत्याधिक विषमता होती है तो वह निराशावादी बन जाता है। ऐसी अवस्था में वह समाज का विनाशक

अथवा मानसिक रोगी बन जाता है। आधुनिक भोगवादी सभ्यता का स्वाभाविक परिणाम साम्यवाद है। साम्यवाद में असन्तोष के साथ आशा भी रहती है। जब असन्तोष का साथ निराशा से हो जाता है तब मानसिक रोगों की वृद्धि होती है।

भोगवादी सभ्यता के इस परिणाम से संसार के कुछ दूरदर्शी चिन्तक सचेत हो गये हैं। एडवर्ड कारपेन्टर ने सभ्यता को ही अपनी 'सिविलिजेशन इट्स कामेज एण्ड क्योर' नामक पुस्तक मे एक रोग सिद्ध किया है। जहाँ-जहाँ सभ्यता की वृद्धि होती है, वहाँ-वहाँ सब प्रकार के रोग बढते जाते हैं। सभ्यता मनुष्य को न केवल शरीर से, वरन् मन से भी दुर्बल बना देती है। उसमें वह छल और कपट की मनोवृत्ति बढ़ा देती है। इससे मनुष्य मे चतुराई तो आ जाती है परन्तु उसका मन दुर्बल हो जाता है। दुर्बल मन के व्यक्ति को सरलता से शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार के रोग हो जाते हैं। बिना इच्छाशक्ति की दृढ़ता के मनुष्य को मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं होता। यह इच्छाशक्ति की दृढ़ता, सचाई के व्यवहार से आती है। जो मनुष्य जितना ही सभ्य कहा जाता है, उसमें दूसरों को धोखा देने की उतनी ही अधिक प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार वह दूसरों को धोखा देता है, वह अपने आपको भी धोखा देता है। मनुष्य को मानसिक रोग, अपने आपको धोखा देने के परिणामस्वरूप होते हैं। बर्बर जाति के लोग सभ्य जाति के लोगों की अपेक्षा दूसरों को और अपने आपको कम धोखा देते हैं; अतएव उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक रोग नही होते।

भोगवादी सभ्यता की बुराइयों से क्षुब्ध हो, कुछ लोग तपवादी बन जाते हैं। ऐसे लोग अपनी शारीरिक सुख की इच्छाओं का दमन करने मे ही मानव-जाति का कल्याण देखते हैं। महात्मा टाल्सटाय इस मत के प्रवर्तक हैं। हमारे देश के महान् संत, महात्मा गाधी ने टाल्सटाय के विचारों का न केवल समर्थन वरन् उन्हें अपने जीवन में चरितार्थ भी किया। तपवाद के अनुसार शारीरिक सुख की इच्छा करना ही अनर्थ-मूलक है। शरीर को जितना ही कठोरता में रखा जा सके, भला है। तपवादी लोग काम-वासना को शत्रु के रूप में देखते हैं। ये न अपने जीवन मे और न अपने शिष्यों अथवा मित्रों के जीवन में उसका प्रकाशन सह सकते हैं। शारीरिक सुख का प्रधान केन्द्र, कामवासना ही है, अतएव तपवादी व्यक्तियों की सारी शिक्षा इसके निराकरण के लिए होती है। आदर्श-वादिता, अनुशासन की कठोरता और ब्रह्मचर्य ऐसे लोगों की विशेषता रहती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के विचारों को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जब हम देखते हैं तो तपवादी सभ्यता को वैसा ही हानिकारक पाते हैं जैसी भोगवादी सभ्यता को।

तपवादी सभ्यता आदर्शवादी सभ्यता है। आदर्शवादी व्यक्ति जहाँ कहीं आदर्श की अवहेलना देखता है वहाँ वह लोगों की भर्त्सना करता है। वह जिस प्रकार अपने प्रति कठोर होता है, दूसरों के प्रति भी कठोर होता है। इसके कारण वह अच्छा शिक्षक और अभिभावक नहीं बन सकता। अत्युच्च आदर्श में पले बालकों का मन सुगठित नहीं हो पाता। मनुष्य की इच्छाओं का विकास धीरे-धीरे ही होता है। कोई भी व्यक्ति अपनी शारीरिक सुख की इच्छाओं से एकाएक मुक्त नहीं हो सकता। जब उसे समय के पूर्व आदर्शवादिता सिखा दी जाती है, तो वह अपनी भोग्य इच्छाओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। वह इनका दमन करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह अपने आपसे ही घृणा करने लगता है और तब उसका मन मानसिक विभाजन की अवस्था मे पहुँच जाता है। जिस व्यक्ति की शारीरिक सुख की इच्छाओं का समय के पूर्व दमन हो जाता है, उसके जीवन का विकास ही रुक जाता है। या तो वह सारी आदर्शवादिता को ही फेंक देता है अथवा वह मानसिक रोगी बन जाता है। यह स्थिति अब हम अपने देश मे देख रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र के अधिकाश लोग, जिन्होंने नैतिकता के सामान्य नियमों को ताक मे रख दिया है तथा हमारे कुछ आदर्शवादी सज्जन आत्म-भर्त्सना की पीड़ा से मरे जा रहे हैं। यह हमारी पुरानी अत्युच्च आदर्शवादिता और तपवादिता का परिणाम है।

आज हमारे बहुत से होनहार नवयुवकों को अनेक प्रकार के मानसिक रोग जैसे अकारणभ्रम, बाध्यविकार हिष्टीरिया-न्यूरेश्थेनिया आदि सता रहे हैं। ये नवयुवक दुराचारी और कामी नहीं। वे बड़े सच्चे और सदाचारी हैं। हमारी मनोविज्ञानशाला में प्रतिदिन जटिल मानसिक रोगों से पीड़ित ऐसे नवयुवक आते हैं। इन्हें रोग से मुक्त होने के लिए नैतिक शिक्षा नहीं देनी पड़ती। यह तो उनमें कूट-कूट कर भरी रहती है। उन्हें अपनी भोगेच्छाओं पर विजय प्राप्त करने की सलाह भी नहीं देनी पड़ती। वे स्वयं अपने आपको आवश्यकता से अधिक कठोरता में रखते हैं। इनमें से कई नवयुवक धनी होने पर भी जाड़े में कोट नहीं पहनते, बालों को नहीं सजाते, सिनेमा नहीं जाते, हँसी मजाक से दूर रहते हैं, कामोत्तेजक साहित्य कहानियाँ आदि नहीं पढ़ते। वे फलाहार पर तथा दूध पर रहते हैं। कुछ दिन उपवास भी करते हैं। परन्तु वे सदा आत्महीनता की भावना से पीड़ित रहते हैं। उन्हें अपने आप से असन्तोष रहता है, जीवन अर्थहीन दिखाई देता है तथा समाज सोसाइटी भली नहीं लगती। कितने ही नवयुवक इस प्रकार के निरर्थक जीवन का भार न ढोकर आत्म-हत्या ही कर लेना चाहते हैं। इन आदर्शवादी तपस्वी नवयुवकों के मन का जब मनोविश्लेषण-विधि से

अध्ययन किया जाता है तब उनके अचेतन मन में प्रबल भोगवासना पाई जाती है।

हाल ही में काशी मनोविज्ञानशाला में मूर्छा रोग से पीड़ित एक चौबीस-वर्षीय नवयुवक की मनोविश्लेषण और आत्म-निर्देशविधि द्वारा सफल चिकित्सा हुई। यह नवयुवक बड़ा आदर्शवादी व्यक्ति है। वह धनी घर का व्यक्ति है। माता-पिता का अकेला बेटा है। वह सभी प्रकार से शरीर को कष्ट देता था। वह अल्पभोजी, रसना के स्वादों को त्यागनेवाला तथा जाड़े में हलके सूती कुरते में रहनेवाला व्यक्ति है। वह सिनेमा नहीं जाता, हँसी मजाक से दूर रहता और विवाहित होने पर भी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता था। उसके समाज-सेवा के बड़े-बड़े ऊँचे आदर्श थे। परन्तु इन आदर्शों की पूर्ति वह मूर्छा रोग से पीड़ित होने के कारण नहीं कर पाता था। यह रोग उसे गत पाँच वर्ष से सता रहा था। इसके कारण उसे एक वर्ष तक अपनी पढ़ाई भी छोड़नी पड़ी थी। इस युवक के मन के भीतरी भाग के अध्ययन से पता चला कि उसके आन्तरिक मन में प्रबल काम-वासना है। इसका उसे ज्ञान नहीं है। उसकी तपवाद की मनोवृत्ति इस वासना के दबाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। उसके भीतरी मन में सदा उसके अनजाने ही उसकी भोगवादी और आदर्शवादी प्रवृत्तियों में झगड़ा चलता था। इसके कारण उसका चेतन मन सदा दुःख और अशान्ति की अवस्था मे रहता था। फिर जब भोगवादी वासना की शक्ति बढ़ जाती, तो वह चेतना के प्रतिबंध को अलग करके मूर्छा के रूप में बाहर आ जाती थी। जब सम्मोहित अवस्था में उसकी पुरानी स्मृतियों को जगाया गया तो ज्ञात हुआ कि उसे काम-वासना तेरह वर्ष की अवस्था से ही पीड़ा देने लगी थी। इस व्यक्ति ने अपनी माता से कठोर नैतिक शिक्षा पाई थी, अतएव उसने अपनी इस भोगेच्छा की आत्म-भर्त्सना कर कठोरता से दबा दिया। परन्तु परिणाम लाभप्रद न होकर जीवन को दुःखमय बनानेवाला ही हो गया। उसकी वासना विकसित न होकर उसी अवस्था में बनी रह गई जिस अवस्था मे उसका दमन हुआ था और अब वह मूर्छा के रूप में प्रकाशित हो रही थी।

इसी प्रकार एक दूसरे नवयुवक को अकेले रहने में अथवा कहीं जाने में भय लगा रहता था। अकेले रहने पर हृदय की धड़कन इतनी अधिक होती थी कि उसे मृत्यु होने का भय हो जाता था। इसका भी जीवन बड़ा ही आदर्शवादी है। वह अपनी स्त्री से दश वर्षों से अलग रहता है। अन्न मिठाई आदि खाना और दूध पीना कई वर्षों से छोड़ दिया है। जाग्रतावस्था का अधिक समय भजन-पूजा में जाता है। उसके रहन-सहन मे आदर्श सादगी वर्तमान है। लखपती होते हुए भी गरीब के समान रहता है। इसके मनोविश्लेषण से पता चला कि

उनके आन्तरिक मन में भी व्यभिचार की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल है। उनका अकेले रहने का भय एक प्रकार से उन्हें व्यभिचार से बचाने की, प्रकृति की योजना है। अकेले रहने पर किसी प्रकार के अनैतिक-क्रिया करने अथवा कुविचार आने की संभावना है। इसीलिये ही यह भय उत्पन्न हुआ।

जिन व्यक्तियों की नैतिक धारणाये अति प्रबल होती हैं वे पग-पग पर अपनी भर्त्सना करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति रचनात्मक कार्य करने मे असमर्थ रहते हैं। जिस प्रकार वे अपनी कटु-आलोचना करते हैं, दूसरों की भी कटु-आलोचना करते हैं। इस प्रकार वे अपने समान दूसरों को भी मानसिक रोगी बना देते हैं। प्रबल धर्म-बुद्धि होने पर यदि कोई व्यक्ति नैतिक भूल कर डाले तो उसे न केवल मानसिक संताप होता है, वरन् मानसिक रोग भी हो जाता है। जब मनुष्य अपनी बहुत पुरानी नैतिक धारणा की अवहेलना करके कोई आचरण करता है तो उसे अपनी धर्म-बुद्धि (कान्सेन्स) दण्ड अवश्य देती है। हमारी धर्म-बुद्धि समाज की देन है और यह सभ्यता की सर्वोच्च वस्तु है। परन्तु अति कठोर नैतिक-बुद्धि अथवा 'कान्सेन्स' भी मनुष्य को निकम्मा और मानसिक रोगी बना देती है। इसके कारण कितने ही नवयुवक और युवतियों को काम-आचरण सम्बन्धी साधारण सी भूल के कारण अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। गन्दगी का भय, सफाई की झक, एक्ज़िमा, दमा, हृदय की धड़कन कई प्रकार के बाध्य विचारों का रोग अपनी सामान्य धर्मबुद्धि (कान्सेन्स) के विरुद्ध आचरण करने से उत्पन्न हो जाते हैं। जब हम किसी दुराचरण के लिये बाहरी दण्ड से जी चुराते हैं तो वह दण्ड हमें भीतर से ही मिल जाता है।

इन बातों को देखकर पता चलता है कि मनुष्य को न तो अत्यधिक भोगवादी बनना चाहिये और न अत्यधिक तपवादी अथवा आदर्शवादी। संसार के सर्वोच्च व्यक्तियों ने भोगवाद और तपवाद के बीच का मार्ग ग्रहण करने की सलाह दी है। भगवान कृष्ण, बुद्ध, अरस्तू आदि की यही सलाह है। जब तक किसी सभ्यता में मनुष्य की भोगवादी और आदर्शवादी प्रवृत्तियों की अवहेलना नहीं होती, तब तक मानसिक रोगों की वृद्धि भी नहीं होती। जब सभ्यता एकाङ्गी हो जाती है तभी मानसिक रोगों की वृद्धि होती है। मनुष्य अपनी किसी भी प्रकार की इच्छा का निराकरण एकाएक नहीं कर सकता। इच्छाओं का विकास ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ होता है। जब ज्ञान के अभाव में किसी प्रकार की इच्छा का दमन होता है तो उससे मनुष्य के अहंकार की वृद्धि होती है। अहंकार की वृद्धि के साथ-साथ, मानसिक रोगोंकी वृद्धि होती है। अहंकार की अत्यधिक वृद्धि, स्वयं मानसिक रोग है। जिस विधि से इस मूल रोग का अन्त होता हो,

वही विधि स्वास्थ्य रखने की विधि है, जिन समाजों और सभ्यताओं में अहंकार को सीमित रखना सिखाया जाता है वे समाज और सभ्यता मानसिक रोगों के विनाशक होते हैं। अहंकार का विनाश संतुलित जीवन से और अपने आपके सच्चे ज्ञान से होता है। आत्म-स्वरूप के ज्ञान होने पर मनुष्य के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। सबसे ऊँची सभ्यता का ध्येय मनुष्य को अपनी प्रकृति तथा स्वरूप का साक्षात्कार कराना है। ऐसी सभ्यता में मानसिक रोगों का स्थान नहीं रहता। हम इसी सभ्यता की राह देख रहे हैं। 'जब तक वह नहीं आती हम अपने व्यक्तिगत जीवन को संतुलित बनावें।'

सभी प्रकार के मानसिक रोग मानसिक खिंचाव के बढ़ने से उत्पन्न होते हैं। मानसिक खिंचाव की वृद्धि इच्छाओं की वृद्धि से होती है। जब मनुष्य की इच्छायें एक सीमा से अधिक बढ़ जाती हैं तब वे किसी न किसी की हानि करती हैं। उनकी पूर्ति करने से समाज के दूसरे लोगों की हानि होती है और उनके दमन करने में अपने आपकी। इच्छाओं का दमन बाहरी वातावरण अथवा अपनी ही नैतिक बुद्धि की प्रतिकूलता के कारण होता है। दोनों प्रकार के दमन से मानसिक खिंचाव बढ़ता है जब यह खिंचाव बहुत बढ़ जाता है तब मानसिक रोग हो जाता है।

इस प्रकार के खिंचाव का अन्त आन्तरिक दृढ़ता के आने से होता है। इसके लिये नये प्रकार के पुरुषार्थ की आवश्यकता है। और वर्तमान सभ्यता इस पुरुषार्थ से विमुख है। आधुनिक काल का सभ्य पुरुष बाहर से बड़ा आकर्षक और ठोस दिखाई देता है, परन्तु भीतर से वह कुरूप और खोखला है। उसका बाहरी वैभव उसके भीतरी दिवालियापन को छिपाता है। वर्तमान काल के बड़े-बड़े विनाशक युद्ध और पागलखाने की बढ़ती हुई संख्या संसार के विचारवान व्यक्तियों की दृष्टि सभ्य मानव के आध्यात्मिक दिवालियपन की ओर आकर्षित कर रहे हैं।

घृणा के मनोवैज्ञानिक परिणाम

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों वर्तमान होती हैं। सभ्य समाज में अच्छाइयों के प्रकाशन का अवसर बहुत मिलता है; परन्तु अपनी बुराइयों का प्रकाशन कोई प्रत्यक्ष रूप में नहीं कर सकता। समाज के आदर्श नैतिक होते हैं, अत सभ्य समाज में अपनी बुरी भावनाओं के प्रदर्शन के लिए भी हमें काल्पनिक नैतिकता धारण करने की आवश्यकता पड़ जाती है। चूँकि यह नैतिकता हमारे व्यक्तित्व का अंग नहीं होती, अत यह हमारे व्यक्तित्व का विच्छेद कर देती है। हम यथार्थ मे कुछ होते हैं और व्यवहार मे कुछ दूसरे प्रकार के बन जाते हैं।

मनुष्य अपने दोषों को वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं करता, इससे उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है। इसीलिए वह अपनी बुराइयों का दमन किया करता है और चेतना की सतह पर नहीं लाता। फल स्वरूप वे बुराइयाँ उसके अचेतन मन की निधि बन जाती हैं। फिर मनुष्य दूसरों के ऊपर उन बुराइयों का आरोप करने लगता है। क्योंकि दूसरे के ऊपर किसी दोष का आक्षेप करना, अपने ऊपर करने की अपेक्षा आसान होता है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य दूसरों से घृणा करने लगता है। वह यह नहीं समझता कि जिस वस्तु के लिए वह दूसरों से घृणा करता है, वह स्वयं उसी में वर्तमान है। एक बात और है कि जिस प्रकार हम अपनी बुराइयों का प्रक्षेप दूसरों पर करते हैं, उसी प्रकार दूसरों की बुराइयों का प्रक्षेप भी हमारे ऊपर अनजाने में हो जाता है। इस प्रकार बार-बार दूसरों में छिद्रान्वेषण करने से एक ही बुराई प्रतिक्रिया रूप में कई गुना अधिक होकर हमारे अन्दर चली आती है और हम बुराइयों की एक गठरी बन जाते हैं।

घृणा की आदत से जब कोई विचार किसी के मन मे आता है फिर उससे मुक्ति पाना सरल नहीं। यदि छिद्रान्वेषण का स्वभाव केवल विचार ही विचार तक सीमित रह जाय तो कोई विशेष हानि नहीं, पर जब यह किसी संवेग से उपाधियुक्त हो जाता है तो फिर यह 'हठ का रूप' धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में यदि हमारा अचेतन मन, बार-बार किसी का चिन्तन करे तो वह भावना हमारे अन्दर चरितार्थ हो जाती है। उदाहरण के लिए, किसी ने एक कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति को देखा। इस दर्दनाक दृश्य को देखकर, उक्त व्यक्ति की पीड़ा असहनीय हो जाती है यहाँ तक कि उस दृश्य को अपनी चेतना के समक्ष नहीं लाना चाहता। वह उस अनुभव को भूल जाना चाहता है। चूँकि

उक्त व्यक्ति के अनुभव के साथ करुणा के संवेग का संयोग है इसलिए अनुभव को भुलाने के लिए संवेग की भी विस्मृति करनी पड़ेगी। किसी संवेग के विस्मरण के लिए अत्यधिक दमन की आवश्यकता होती है। अब मान लिया जाय कि उक्त व्यक्ति ने अपने अनुभव की विस्मृति कर ली। परिणाम यह होगा कि वह व्यक्ति कुष्ट रोग का आवाहन करेगा। ऐसी अवस्था में हमें किसी भी रोग से घृणा नहीं करनी चाहिए। घृणा के कारण अकारण ही दोषों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस दोष से बचने के लिए रोगी से घृणा की अपेक्षा, सहानुभूति प्रदर्शित करनी चाहिए। प्रेम और सहानुभूति द्वारा हम तमाम रोगों का निराकरण कर सकते हैं।

हम जैसे होते हैं, दूसरे की बातों का उसी के अनुसार अर्थ लगाते हैं। जिस प्रकार किसी बीज के प्रजनन के लिए उसके अनुकूल भूमि, खाद्य सामग्री और वायुमंडल की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार किसी विचार की उत्पत्ति के लिए उसी के समान पृष्ठभूमि की आवश्यकता पड़ेगी। हम दूसरों के अन्दर बुराई इसलिए पाते हैं कि हमारा मन केवल बुराइयों के ग्रहण के लिए ही उपयुक्त है। उसमें इतनी योग्यता नहीं कि किसी की अच्छाइयों को ग्रहण कर सके। मिर्चा, पृथ्वी के कटु-स्वभाव को ही ग्रहण करता है, पर ईख उसी पृथ्वी से मधुर-स्वभाव ग्रहण करता है। अर्थात् हम जैसे होते है, वैसा ही ग्रहण भी करते हैं। उसी प्रकार यदि हमारे मन में अच्छी बातों की खान है तो दूसरे के दोषों को भी हम अच्छाई के रूप में ही ग्रहण करेंगे। साधु-मनुष्य दूसरों की बुराइयों पर उतनी दृष्टि नहीं रखते जितनी उनकी अच्छाइयों पर। दूसरों पर दोषारोपण का स्वभाव, अच्छाइयों से वचित कर देता है और अच्छाइयों के देखने का स्वभाव मनुष्य को बुराइयों से वंचित कर देता है। इस अपूर्ण संसार में वही व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर सकता है जो बार-बार दूसरों में अच्छाइयों का दर्शन करे।

घृणा करने से केवल हम ही नहीं बुरा बनते बल्कि दूसरों को भी घृणावान बना देते हैं। हमारी देखा देखी वह भी हमारा विद्वेषी बनकर अपने में बुराइयों का आवाहन करता है। अत: घृणा करने से दोनों पक्षों की हानि होती है।

यह ठीक है कि मानव अपनी बुराइयों पर दृष्टिपात नहीं करता और अपने को यथार्थ रूप में जानने से इनकार करता है; पर उसे एक न एक दिन अपनी बुराइयों को जानना ही पड़ेगा। बिना अपने आपकी पूर्णतया जाने, न तो हम घृणा की मनोवृत्ति से छुटकारा पा सकते हैं और न अपने अन्दर अच्छाइयों की स्थापन ही कर सकते हैं।

मनुष्य के भय

भय एक प्रबल मानसिक आवेग है। सभी प्राणियों को भय होते हैं। इससे उनके जीवन की रक्षा होती है और वे अपने आपकी उन्नति भी कर सकते हैं। प्राणरक्षा की प्रवृत्ति के साथ-साथ भय का आवेग काम करता है। कुछ न कुछ भय रहना सभी लोगों के लिये, चाहे वे अशिक्षित और मूर्ख हों अथवा शिक्षित और विद्वान हो, अच्छा है परन्तु जब भय एक मात्रा से अधिक हो जाता है अथवा जब वह अविवेकी बन जाता है, तब वह घातक हो जाता है। फिर वह मनुष्य की उन्नति न कर उसका विनाश कर डालता है। इस प्रकार के भय से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य के जीवन की एक विशेषता यह है कि वह एक ओर जहाँ इतना निर्भीक बन सकता है कि हँसते-हँसते अपने प्राण समर्पित कर दे, वहाँ वह इतना भयभीत हो जाता है कि वह किसी भयानक दृश्य को देखकर ही मर जाय। फिर दूसरे प्राणी तो उन्हीं बातों से डरते है जो उनके लिये वास्तव में घातक होती हैं। मनुष्य बहुत सी निरर्थक वस्तुओं से भी डरा करता है।

मनुष्य के भय की एक और विलक्षणता है। पशु पक्षी अपने भय को छिपा नहीं सकते। मनुष्य अपने भय को इतना छिपा सकता है कि न केवल दूसरे लोग वरन् स्वयं भययुक्त व्यक्ति ही नहीं जानता कि उसके भीतरी मन मे भय बैठ गया है। वह छिपा हुआ भय ही भय की मानसिक-ग्रन्थि कहलाता है। जिस व्यक्ति का भय अपने आप से छिपा है वह अपने आपको कायर व्यक्ति न मानकर बहादुर व्यक्ति मानता है। वह दूसरों के सामने अपनी बहादुरी की कहानियाँ सुनाया करता है। यदि उसकी इन कहानियों पर कोई सन्देह करे तो वह चिढ जाता है। जिस प्रकार बाहर से तपवादी व्यक्ति के व्यक्तित्व में सुख की प्रबल इच्छा दबी रहती है, और काम वासना से घृणा करनेवाले व्यक्ति के अचेतन मन में प्रबल कामवासना रहती है, उसी प्रकार ऊपर से निर्भीक रहनेवाले व्यक्ति के मन में प्रबल भय का भाव रहता है। यही कारण है कि घबड़ाहट और हृदय के रोग से जितने स्थूलकाय और पहलवान लोग मरते हैं, दुबले-पतले लोग उतने न घबड़ाते ही हैं और न उन्हें हृदय रोग ही उतना होता है। मारपीट खाने से डरनेवाला व्यक्ति शरीर को बलवान बनाने में लग जाता है। इससे उसका शारीरिक बल बढ़ जाता है और चेतन मन से वह निर्भीक भी बन जाता है, परन्तु उसका आन्तरिक भय इस प्रकार नहीं जाता। व्यक्ति जितना ही इस भय को छिपाने की चेष्टा करता है वह उतना ही प्रबल हो जाता है। यह छिपा भय कभी-कभी शारीरिक और मानसिक रोग मे प्रगट हो जाता है।

लड़ाई के समय कुछ सिपाहियों को कल्पित लकवा हो जाता है। उनके अंगों को कोई क्षति नहीं होती परन्तु वे उनको काम में नहीं ला सकते। ऐसे व्यक्तियों के मानसिक अध्ययन से पता चला है कि वे भीतरी मन से लड़ाई के दृश्यों से डरते थे, परन्तु वे इस डर को स्वीकार नहीं करते थे। अपने साथियों को बहादुरी की शान दिखाने की अभिलाषा उन्हें इस भय को स्वीकार नहीं करने देती थी। ऐसे लोग दूसरे सिपाहियों के सामने अपनी बहादुरी की डींग हाँका करते हैं। एक ऐसे ही बहादुरी की डींग हाँकनेवाले सिपाही के सामने एक तोप का गोला गिरा और फट गया। इस दृश्य से वह बेहोश हो गया। गोला से उसे कोई चोट नहीं आई थी। परन्तु भय में आकर उसका मुँह खुल गया था। वह फिर इसी अवस्था में रह गया, अर्थात् उसे खुले मुँह की अवस्था में मानसिक लकवा हो गया। जब मनोवैज्ञानिक उपचार से इसके छिपे भय का रेचन हुआ। तब उसका मुँह बन्द हो गया। इस तरह उसके भीतरी मन की वास्तविक स्थिति को संसार के लोगों ने जान लिया। मन की छिपी भावना को जब हम स्वेच्छा से प्रकाशित नहीं करते तो वह हमारी इच्छा के विरुद्ध रोग के रूप में प्रगट हो जाती है।

एक व्यक्ति भूतों के प्रति निर्भीकता की बहुत कुछ चर्चा किया करता था। गर्मी के दिनों में एक बार वह दोपहर में आम के पेड़ के नीचे चारपाई पर सो रहा था। इस आम को लोग भुतहा आम कहते थे। उसे अपनी अर्धसुप्तावस्था में अनुभव हुआ कि किसी ने पेड़ के ऊपर से रेत उसपर फेंकी है। उसने उठ कर देखा तो वहाँ कोई नहीं था। उसके मन में आया कि आम में रहनेवाले भूत ने उसके ऊपर रेत फेंक दी है। वह अपने आपको निर्भीक तो समझता ही था। बस क्या था। उसने पास में रखे जूते को उठाया और आम के पेड को उनसे मारने चला। परन्तु ज्योंही उसने पेड़ को जूता मारना चाहा, वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। उस समय से इस व्यक्ति को बराबर मूर्छा होने लगी। उसका मूर्छा का रोग तब तक नहीं गया जब तक कि उसके भीतरी भय का भाव, जिसे उसने छिपा रखा था, नष्ट नहीं हुआ। इस छिपे भय को मनोविश्लेषण की रेचन विधि से नष्ट किया गया था।

भय की मानसिक ग्रन्थि अनेक प्रकार के असाधारण भय मनुष्य के मन में उत्पन्न करती है। इन भयों को आधुनिक मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने नये-नये नाम दिये हैं। किन्हीं लोगों को छिपकली और चूहों का, कीड़े-मकोड़ों का, साँप-छछूंदर का, असाधारण भय होता है। एक प्रतिष्ठित शिक्षित व्यक्ति अपनी पचास वर्ष की अवस्था में रोशनी के आसपास आनेवाले पतंगों से इतना डरते थे, कि उनके कारण वे रोशनी के पास ही नहीं जा सकते थे। पतंगों की छलांग उन्हें शेर की

हृदयाघात के समान भयभीत कर देती थी। मेरे एक मित्र मेंढक से बहुत डरते हैं। उन्हें बायलाजी कक्षा में चीरफाड़ करनेवाले कालेज में विद्यार्थियों की हिम्मत पर आश्चर्य आता है। यदि अचानक मेंढक उनके ऊपर कूद पड़े तो हृदय की गति रुकने की ही नौबत आ जाय।

कुछ लोगों को साँप का इतना भय रहता है कि वे इसके त्रास के मारे सुख की नींद नहीं सो पाते। उन्हें स्वप्न में साँप परेशान करते रहते हैं। जब कभी वे बाहर खेतों में घूमने जाते हैं तो हर बिल और दरार में साँप ही दिखाई देते हैं। डर के मारे वे स्वतन्त्रता से मैदान में भी विचरण नहीं नहीं कर पाते। पैखाने में नालियों में और मकानों की छतों पर ही साँप की कल्पना नहीं उठती वरन् अपने बिस्तर के नीचे, तकिये के गिलाफ और कोट की आस्तीन में भी उन्हें सप की कल्पना आती है। इस प्रकार का एक रोगी बनारस हिन्दू-यूनिवर्सिटी के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में आठ वर्ष पहले आया था। बेचारा विद्यार्थी इस डर के मारे रात को कमरे के बाहर नहीं निकलता था और दिन को भी उसे अपने बिस्तर को बारम्बार झाड़ना पड़ता था।

इस प्रकार के भयों के अध्ययन से पता चला कि रोगी के वास्तविक भय का कारण दूसरा ही है। बाहरी पदार्थ उसका प्रतीक मात्र है। छिपकली चूहों से, कीड़े पतंगों से, तथा साँप छछूंदर से अत्यधिक डरनेवाले व्यक्तियों में काम वासना का अत्यधिक दमन पाया जाता है। वे उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आन्तरिक मन में सदा आदर्शवादी और भोगवादी वासनाओं का अन्तर द्वन्द्व चला करता है। काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने के परिणामस्वरूप वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये डर की वस्तु बन जाती है। यही भय कुछ ऐसी वस्तुओं पर आरोपित हो जाती है जो स्वयं निर्दोष है परन्तु जिनका किसी प्रकार से सम्बन्ध भय के पदार्थ से है। इस सम्बन्ध को मनुष्य का चेतन मन नहीं समझता। यदि इससे समझाया भी जाय तो भी वह नहीं समझेगा। वास्तव में इस प्रकार के निरर्थक भय मनुष्य को तभी तक रहते हैं जब तक मनुष्य उनके वास्तविक अर्थ को नहीं जानता। जब कोई रोगी अपने असाधारण भय के वास्तविक अर्थ को जान लेता है तो उनका भय ही नष्ट हो जाता है।

मानसिक ग्रन्थि के रूप में पड़ा हुआ भय न केवल निर्दोष पदार्थों अथवा जीवधारियों के भय के रूप में प्रकाशित होता है, वरन् वह दूसरे प्रकार से भी प्रकाशित होता है। कितने ही लोगों को अकेले रहने का भय होता है और कितनों को बहुत से लोगों में जाने का भय होता है। कुछ लोग ऊँचे मकानों को देखकर डरते हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि वे मकान उनके ऊपर ही गिर

पड़ेंगे। कुछ को सड़क के पार जाने का भय होता है। कितने ही सुशिक्षित व्यक्ति सभा में सब कुछ जानते हुए भी कुछ बोल नहीं पाते। हमारे एक परिचित व्यक्ति करोड़पति हैं, वे विद्वान भी हैं। अतएव सभा में उन्हें सभापति का आसन दे दिया जाता है। परन्तु वे जब सभा में बोलने लगते हैं तो उनके हृदय की धड़कन इतनी बढ़ जाती है कि वे दो चार शब्द भी नहीं बोल पाते। सभा के मंत्री को ही सारा बोलने का काम करना पड़ता है। स्वयं महात्मा गांधी को कई वर्षों तक सभा में बोलने का भय तंग करता रहा। विलायत से जब वे बैरिस्टरी पास करके आ रहे थे और उन्हें दावत दी जा रही थी, तो वे उस सभा में दो शब्द भी न कह पाये। इसी प्रकार फीरोज शाह मेहता द्वारा आयोजित बंबई की सभा में वे अफ्रीका के कामों के विषय में अपना लिखित भाषण भी ठीक से न पढ़ पाये।

इस प्रकार के भावों का कारण अपने पिछले जीवन में घटित आत्म-ग्लानि उत्पन्न करने वाली घटनायें होती हैं। इन घटनाओं का स्मृति पर आना मनुष्य के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाता है, अतएव मनुष्य उन घटनाओं के स्मरण से डरता है। फिर वे अपने सच्चे स्वरूप में चेतना की सतह पर न आकर प्रतीक रूप से आती हैं। अतएव मनुष्य उन प्रतीकों से ही डरता है। जिस व्यक्ति ने नैतिकता के नियमों के विरुद्ध कोई आचरण किया है, वह इस प्रकार के अनाचार के लिये दंड पाने से डरता है। इसके कारण एक ओर उसका आचरण कठोरता पूर्वक नियम बद्ध हो जाता है और दूसरी ओर वह उन बातों से डरने लगता है जो नियम के तोड़ने की प्रतीक हैं। जिस व्यक्ति ने अकेले छूट जाने पर किसी प्रकार का व्यभिचार किया है अथवा व्यभिचार की भावना मात्र मन में लाया है, उसे अकेले रहने का भय हो जाता है। जो घर के बाहर जाकर अथवा समाज में मिलकर किसी अनैतिक आचरण को करने की इच्छा रखता है, उसे उसकी धर्म बुद्धि घर के बाहर ही नहीं जाने देती। व्यभिचार की प्रबल ऐसी इच्छा जिसे स्वयं व्यक्ति नहीं जानता, अच्छे पदार्थों के प्रति डर का भाव उत्पन्न कर देती है। ऐसे डर उन लोगों को होते हैं जो बचपन में कठोर नैतिकता की शिक्षा पाते हैं; और जो संगत में पड़ कर कुछ अनैतिक आचरण कर डालते हैं। यदि ऐसे व्यक्तियों के बचपन में कठोर नैतिकता की शिक्षा न हो, तो ऐसे डर उन्हें न हों। ये डर तब तक मन से नहीं जाते जब तक मनुष्य के आन्तरिक मन में उसकी भोग वासनाओं और आदर्शवादी स्वत्व में समन्वय स्थापित नहीं होता। अपने मन के अन्तर पटल को जानकर ही यह समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इसके लिये एक ओर भोग प्रवृत्ति का दमन कर उसका परिष्कार करना पड़ता है और दूसरी

और नैतिकता को भी व्यवहार्य बनाना पड़ता है।

पहले बताये गये सभी प्रकार के भय मनुष्य के असन्तुलित जीवन के परिणाम हैं। कितने ही लोगों के जीवन मे भोग-वासना का अत्यधिक दमन होता है। बहुत से नवयुवक समय के पूर्व आदर्शवादिता में पड़कर काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। वे उसे अपने जीवन के विकास का सबसे बड़ा शत्रु मानने लगते हैं। फिर यही वासना उन्हें स्वप्न मे अनेक प्रतीकों के द्वारा तंग करती है। उन्हें दंगे के स्वप्न, पानी में गिरने के, पहाड़ से फिसलने के, पीछा किये जाने के, आग मे पड़ने के ऐसे अनेक भयावने स्वप्न होते हैं। जो वासना उन्हें सुख और शान्ति दे सकती है, जो उनके जीवन को सुन्दर और वैभवशाली बना सकती है, वही घृणा के भाव से तिरस्कृत होने पर अनेक प्रकार के भयों का कारण बन जाती है। ऐसे मनुष्य का भीतरी मन दो भागों में बँट जाता है और उसका एक भाग दूसरे भाग के साथ निरन्तर संघर्ष करते रहता है। ऐसे लोगो को न केवल अकारण भय ही सताते हैं वरन् उन्हें अकारण ही आत्मभर्त्सना होती रहती है। उनका मन सदा चिंतायुक्त रहता है। वे किसी बात के बारे मे सरलता से निर्णय नहीं कर पाते। वे कुछ और करने जाते हैं पर कुछ और हो जाता है।

असंतुलित व्यक्ति कभी-कभी विषय-लोलुपता के चंगुल में पड़कर कुछ नैतिक भूलें कर डालते हैं। ऐसे लोगों को आन्तरिक शान्ति नहीं रहती। मनुष्य जब कभी अपने नैतिक स्वत्व के विरुद्ध कार्य करता है तो उसे दण्ड अवश्य मिलता है। यह दण्ड चाहे राजकीय हो या सामाजिक अथवा अपने आप से ही दिया गया। हम दूसरों से मिलनेवाले दण्ड से बच सकते हैं, परन्तु अपने आप से मिलनेवाले दण्ड से नहीं बच सकते। दूसरों की आँखों मे धूल झोंकना सरल है, परन्तु अपनी आँख में धूल झोंकना सरल नहीं। मनुष्य इसका प्रयत्न अवश्य करता है, परन्तु वह जितना ही अधिक अपने आपको धोखा देने की चेष्टा करता है उसे ब्याज सहित दण्ड मिलता है। उसे अकारण भय, चिंता, निराशा, और अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें सताने लगती हैं।

हमारे एक मानसिक रोगी को भ्रम हो गया था कि उसकी बातों को सुनकर सभी लोग हँस देते हैं। वह चाहे जितनी सावधानी से किसी के प्रश्न का उत्तर क्यों न दे, उसके मन में कल्पना आ जाती थी कि उसने उत्तर में कोई भूल कर दी है। वह सोचने लगता कि उत्तर सुननेवाला व्यक्ति उसे मूर्ख मानने लगा। इस भ्रम के कारण वह समाज से सदा दूर रहने की चेष्टा करने लगा। वह बी० ए० क्लास का विद्यार्थी था। उसे अब पढ़ी लिखी बातें भूलने लगीं।

वह जीवन से इतना निराश हो गया कि वह आत्म-हत्या की चेष्टा करने लगा। इसके मनोविश्लेषण से पता चला कि वह एक बार एक सुन्दर व्यक्ति के रूप से मोहित हो गया था। उसके मन मे उस समय व्यभिचार की भावना जाग उठी थी। फिर उसकी नैतिक बुद्धि ने उसकी भर्त्सना की, तब से वह अपने आपको मूर्ख मानने लगा और विद्यार्थी समाज में जाने से घबड़ाने लगा।

इस तरह कितने ही विद्यार्थियों को परीक्षा के भय हो जाते हैं। इनके कारण वे परीक्षा के समय रोगी बन जाते हैं अथवा पढ़ा-पढ़ाया पाठ ही भूल जाते हैं। इस भय-वृत्ति का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इन विद्यार्थियों के मनमें आत्म-विश्वास की कमी हो गई है। भय का कारण परीक्षा की तैयारी मे कमी नहीं वरन् उनकी कोई नैतिक कमी है। यह कमी उनके अज्ञात मन में है। जब इस कमी को पहचान कर उसका निराकरण नहीं होता, विद्यार्थी सदा परीक्षा के समय अकारण भय, चिन्ता और घबड़ाहट का अनुभव अवश्य करता है। ऐसे भयों का विनाश, अपने से सहानुभूति रखनेवाले श्रद्धालु व्यक्ति के समक्ष, अपने अपराध अथवा दोष की स्वीकृति करने से हो जाता है। इससे व्यक्ति के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है। इसलिये दोष स्वीकृति का प्राय ढोंग रचा जाता है। परन्तु इससे रोग नष्ट नहीं होता। सच्ची स्वीकृति से ही रोग नष्ट होता है और मन में निर्भीकता आती है। जहाँ ढोंग होता है वहीं भय होता है। जब मनुष्य सच्चा होने का निश्चय कर लेता है तभी वह निर्भीक बन जाता है। अपने आपको छिपाने से ही मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती है। अपने आपको खोलने एवं अपने दोषों की आत्म स्वीकृति करने से सभी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं। सचाई मानसिक-साम्य और स्वास्थ्य का सर्वोत्तम साधन है।

दैविक चिकित्सा

दैविक चिकित्सा का इतिहास बहुत पुराना है। आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा के पूर्व अपने शारीरिक व मानसिक रोगों से मुक्त होने के लिये संसार का भोला भाला मानव जिस चिकित्सा की शरण लेता था, वह दैविक चिकित्सा ही थी। आधुनिक सभ्यता और विज्ञान मनुष्य की बुद्धि की उपज हैं। जैसे २ मनुष्य की बुद्धि प्रखर होती गई, वह दैविक चिकित्सा की उपयोगिता में विश्वास न कर, वैज्ञानिक चिकित्सा की शरण लेने लगा। अब जहाँ कहीं दैविक चिकित्सा के कोई उदाहरण देखे जाते हैं, वहाँ उन्हें विज्ञान का ही प्रश्न चिन्ह माना जाता है। विज्ञान यह मानने को तैयार नहीं है कि कारण तो राई बराबर हो और कार्य पर्वताकार हो। अर्थात् चिकित्सा के क्षेत्र में विज्ञान यह मानने को तैयार नहीं है कि झाड़ फूक के द्वारा किसी व्यक्ति की स्थाई सिर की पीड़ा, दमा, अथवा पेट का शूल अच्छा किया जा सकता है। इसी प्रकार विज्ञान यह नहीं मानता, कि झाड़ फूंक से अकारण भय और चिन्ता, मेलेन्कोलिया, न्यूरस्थेनिया, और हिस्टीरिया जैसे मानसिक रोग अच्छे किये जा सकते हैं। जहाँ इस प्रकार के रोगों का उपचार झाड़ फूक के द्वारा अथवा किसी प्रकार की मनौती द्वारा, होते दिखाई देते हैं, वहाँ यह विज्ञान उसे अन्ध-विश्वास ही मानता है। वैज्ञानिक बुद्धि के अनुसार इन रोगों के उपचार का वास्तविक कारण कोई दूसरा ही रहता है और किसी दूसरी बात पर श्रेय अन्ध विश्वास वश लाद दिया जाता है। विज्ञान यह मानने को तैयार नहीं है कि चिकित्सक की सद्भावना मात्र से रोगी जटिल से जटिल रोग से मुक्त हो सकता है।

इस वैज्ञानिक मान्यता के प्रतिकूल हमे कुछ एतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। एक प्रमाण बाबर की जीवनी में ही पाया जाता है। इतिहास कहता है कि जब बाबर और उसका लड़का हुमायूँ एक साथ बीमार पड़े हुये थे, और हुमायू की दशा दिन प्रति दिन बिगड़ती जा रही थी, तब बाबर अपनी चारपाई से उठकर हुमायू की चारपाई की तीन बार परिक्रिया की और ईश्वर से प्रार्थना की, 'कि हे खुदा तू मेरे बेटे को जान बख्श दे, उसके बदले मेरी जान लेले' थोड़े ही दिनों मे धीरे धीरे हुमायू अच्छा हो गया और धीरे-धीरे बाबर का रोग बढ़ता गया। उसने संसार से विदा ली।

भगवान बुद्ध और हजरत ईसा की जीवनियों में यह पाया जाता है कि बहुत से शारीरिक और मानसिक रोगी उनके पास व्याधि लेकर आते थे। वे इन रोगियों को अपनी सद्भावना मात्र से स्वस्थ बना देते थे। भगवान बुद्ध की बनाई

हुई चिकित्सा प्रणाली में भूत बाधा का सर्वोत्तम उपचार रोगी द्वारा अपने और दूसरों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास कराना है। रोगी में इस भावना के अभ्यास करने की क्षमता लाने के लिये कई साधक अथवा उसके चिन्तन करने वाले व्यक्ति सामूहिक रूप से उसके प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करते हैं। भगवान बुद्ध की बताई हुई मानसिक रोग की यह उपचार-विधि आज भी संसार के सभी बौद्ध देशों में काम मे लाई जाती है। भूत-बाधा को आज-कल की वैज्ञानिक भाषा में हिस्टीरिया कहा जाता है। हिस्टीरिया एक भुतैला रोग है। इसका कारण मानसिक होता है और मन के परिवर्तन से ही इसका उपचार होता है। यह मन का परिवर्तन वैज्ञानिक चिकित्सा, नशीली औषधियाँ, बिजली के झटके अथवा मनोविश्लेषण द्वारा करने की चेष्टा की जाती है। भगवान बुद्ध की बताई प्रणाली में यह परिवर्तन मैत्री-भावना के अभ्यास के द्वारा और भी अच्छी तरह से हो सकता है। मैत्री-भावना के अभ्यास से न केवल मानसिक वरन् शारीरिक रोग और मनुष्य के चरित्र के दोष नष्ट हो जाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि जटिल-अपराध एक प्रकार का मानसिक रोग है। जिस प्रकार दूसरे मानसिक रोगों को रोगी के प्रति स्नेह दिखाकर, और उसके हृदय को प्रभावित करके अच्छा किया जा सकता है, उसी प्रकार जटिल अपराध की मनोवृति को भी रोगी के प्रति असाधारण मैत्री-भाव दिखाकर अच्छा किया जा सकता है। स्वयं भगवान बुद्ध ने अंगुलिमाल डाकू की हत्या की मनोवृति का उपचार उसके प्रति मैत्री-भाव के अभ्यास से किया था। इसी प्रकार सप्त-ऋषियों के मैत्री-भावना के अभ्यास से वाल्मीकि एक डाकू से महान् ऋषि बन गये थे।

भगवान बुद्ध की बताई हुई इस प्रेम चिकित्सा की प्रणाली का बहुत ही अच्छा प्रयोग इंगलैंड के प्रसिद्ध बाल शिक्षा के विशेषज्ञ डा॰ होमरलेन जटिल बालकों के सुधारने मे और जटिल मानसिक रोगों के उपचार मे किया है। एक बार डा॰ होमरलेन को एक ऐसे नर-घातक मानसिक रोगी के पास ले जाया गया, जो आत्म-हत्या पर तुला हुआ था। इस रोगी के पास कोई चिकित्सक जाने की हिम्मत नहीं करता था। वह एक गद्दे वाले कमरे में इस लिये रक्खा गया था कि कहीं वह अपना सिर जमीन पर पटक कर अथवा दीवाल से टकरा कर आत्म हत्या न कर डाले। उसने खाना पीना छोड़ दिया था। डा॰ होमरलेन ने अपनी प्रेम मुद्रा से विमोहित कर लिया और स्नेहपूर्ण बात चीत से उसे कुछ ही मिनट में वश में कर लिया। इस मानसिक रोगी की चिकित्सा में डा॰ होमर लेन ने डा॰ फ्रायड की बताई हुई विधि से भी काम लिया। परन्तु रोगी का सच्चा उपचार उन्होंने भगवान बुद्ध की बताई मैत्री-भावना के अभ्यास से ही किया।

आज से १० वर्ष पहले की बात है कि मेरा एक छात्र एक जटिल अनिद्रा से पीड़ित हुआ। मैं उस समय इसे अपने मित्र श्रीभिक्षु जगदीश कश्यप के पास जो इस समय नालंदा बौद्ध कालेज के प्रिंसिपल हैं ले गया। भिक्षुजीने उस छात्र से बड़े ही स्नेहपूर्वक बातचीत की और उसे एक आराम कुर्सी पर बैठा कर अपने सब अंगों को शिथिल करके आनापानसति का अभ्यास अर्थात् प्राण-अपानपर चित्त एकाग्र करने का अभ्यास कराया। स्वयं भिक्षु जी उसके सामने इसी अभ्यास को करने लगे। वह रोगी मेरे देखते-देखते पाँच मिनट में सो गया। जब वह विद्यार्थी जगा, तो इसे इसी अभ्यास को करते हुए सोने का आदेश दिया गया। फिर वह विद्यार्थी सब समय के लिये अनिद्रा के रोग से मुक्त हो गया। उसकी जीवनी के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि उसे न केवल अनिद्रा का रोग ही वरन् अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग सता रहे थे। वह मैत्री-भावना और आनापानसति के अभ्यास से इन सभी रोगों से मुक्त हो गया। आज यही विद्यार्थी शिक्षा विभाग मे जूनियर ट्रेनिंग स्कूल का प्रिंसिपल है।

इस विद्यार्थी के ट्रेनिंग कालेज से चले जाने के बाद, उसी का एक सम्बन्धी ट्रेनिंग कालेज में भर्ती हुआ था। वह बड़ा ही शीलवान और धर्मपरायण व्यक्ति था। परन्तु इसे सदा भय लगा रहता था कि उसे साँप काट लेगा। इस डर के कारण वह सुख की नींद न सो पाता था। उसे अपने बिस्तर और तकिये तक को बार-बार झाड़ना पड़ता था। वह रात को अपने कमरे से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं करता था। वह बुद्धिमान व्यक्ति था। अतएव अपने इस भय की निरर्थकता को भी भली प्रकार से जानता था। परन्तु इस ज्ञान का उसके रोग के निराकरण में कोई लाभ न था। दूसरे लोग उसे समझाते थे, इससे उसकी मानसिक परेशानी ही बढ़ती थी। इस रोगी मे साँप के प्रति ही मैत्रीभावना का अभ्यास कराया गया। एक छोटे से विचार ने उसके इस रोग को समाप्त कर दिया। वह रोगी शिवजी का उपासक और योगाभ्यासी था। इसे बताया गया कि सर्प तो शिव जी के आभूषण हैं, वे उसके उपासकों को कैसे काटेंगे। उससे कहा गया कि 'शिवजी का सर्प सा ही चित्र मन में लाते हुए और आनापानसति का अभ्यास करते हुए तुम सो जाओ, यह रोग चला जायगा।' वास्तव मे ऐसा ही हुआ। दो तीन दिन के अभ्यास से रोगी का वर्ष भर का रोग सदा के लिये जाता रहा।

उपर्युक्त दोनों प्रयोग दैविक चिकित्सा के उदाहरण हैं। ये विज्ञान के प्रश्न-चिह्न ही रहेंगे। मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार जब तक किसी रोग की जड़ नहीं खोदी जाती, वह सब समय के लिये समाप्त नहीं होता। मनोविश्लेषण द्वारा

मानसिक ग्रन्थि का निराकरण करना रोग की समाप्ति के लिये नितान्तावश्यक है। डा० फ्रायड जो वैज्ञानिक चिकित्सक थे, उनका कथन है कि जहाँ कहीं पहले बताये गये रोगों का उपचार देखा जाता है वह स्थायी नहीं होता। इस प्रकार का उपचार आत्म-निर्देश का उपचार कहा जाता है। इससे रोग का दमनमात्र होता है, जड़ से नहीं जाता। परन्तु हमने अपने ही प्रयोग में देखा कि इन दो विद्यार्थियों का रोग सर्वदा के लिये समाप्त हो गया। दोनों विद्यार्थियों के जीवन में काम-वासना का असाधारण दमन था। जिसके उपचार के लिये उनका मनोविश्लेषण नितान्तावश्यक था। परन्तु इसके न होने पर भी इन विद्यार्थियों का रोग मुक्त हो जाना एक चमत्कारिक घटना है।

डा० विलियम ब्राउन ने दैविक चिकित्सा को वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि चिकित्सा विज्ञान को अभी तक मनुष्य के मन की सम्पूर्ण शक्ति का ज्ञान नहीं हुआ है। हम अपने मन की जितनी शक्ति को जानते हैं, वह हमारे सम्पूर्ण मन की शक्ति का क्षुद्र भाग है। मनुष्य अपनी मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था मे आत्म-निर्देश द्वारा अपनी मानसिक शक्तियों का कल्पनातीत विकास कर सकता है। आत्म-निर्देश के द्वारा न केवल वह अपने शारीरिक व मानसिक रोगों से मुक्त हो सकता है वरन् अपनी निराशा, अकर्मण्यता और परावलम्बन की मनोवृति पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। स्वयं डा० विलियम ब्राउन को एक बहुत पुरानी सिगरेट पीने की जटिल आदत थी। वे जितना ही इस आदत पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते जाते थे, वह और भी जटिल होती जाती थी। परन्तु एक ही दिन के आत्म-निर्देश से उनकी यह आदत सब समय के लिये जाती रही। डा० विलियम ब्राउन ने हजारों मानसिक रोगियों का सफल उपचार इसी आत्म-निर्देश विधि से किया। जिस प्रकार डा० इमील कूये हिस्टीरिया, वाच्यविचार, अकारण चिन्ता और भय आदि मानसिक रोगों का उपचार आत्म-निर्देश से करते थे, उसी प्रकार डा० विलियम ब्राउन भी आत्म-निर्देश से करते हैं। डा० ब्राउन का कथन है कि मनोविश्लेषण रोग का अन्तिम उपचार नहीं है। रोग का अन्तिम उपचार तभी होता है, जब रोगी किसी नई भावना से प्रेरित होकर अपने जीवन को नये ढंग से चलाने लगता है और इसके लिये रोगी के मन में नये विश्वास और नये दर्शन का उपज होना आवश्यक है।

भारतवर्ष में आत्म-निर्देश विधि से अनेक स्थानों पर मानसिक और शारीरिक रोगों की चिकित्सा होती है। स्वर्गीय डा० दुर्गाशंकर नागर उज्जैन में इसी विधि से अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों की चिकित्सा करते थे। हम स्वयं

काशी मनोविज्ञानशाला में भगवान् बुद्ध के बताये हुए मैत्री-भावना और आनापानसति के अभ्यास के द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक और मनोवात शारीरिक रोगोंकी सफल चिकित्सा कर सके हैं। इस प्रकार की सफल चिकित्सा की चर्चा मनोविज्ञानशाला द्वारा प्रकाशित मनोविज्ञान पत्रिका के प्रत्येक अंक में प्रकाशित की गई है। स्वयं रोगियों ने अपनी चिकित्सा का जो वृतान्त दिया है, वही छापा गया है। हम इन प्रयत्नों के आधार पर एक नये प्रकार का मानसिक चिकित्सा विज्ञान स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

जहाँ तक आध्यात्मिक शक्ति का प्रश्न है विज्ञान स्वयं अन्धकार में टटोल रहा है। पिछले विश्वव्यापी युद्ध के पूर्व कौन जानता था कि संसार का सबसे विध्वंसक यन्त्र एटम बम होगा। एक अणु में इतनी शक्ति है कि उस शक्ति से संसार का बड़े-से-बड़ा नगर क्षण भर में ध्वंस हो सकता है। यदि जड़ अणु इतना बड़ा कार्य कर सकता है, तो स्वसचालित चैतन्य अणु अर्थात् मनुष्य का मन क्या नहीं कर सकता है? इसकी कल्पना कौन करेगा? मनुष्य अपनी आत्मा की शक्ति की सीमा को नहीं जानता। उसे बुद्धि द्वारा जो ज्ञान अपने मन की शक्ति के विषय में प्राप्त हुआ है, वह बहुत ही थोड़ा और विकृत है। जैसे-जैसे मनुष्य का अपने मन के विषय में ज्ञान बढ रहा है, वह जानने लगा है कि जिन बातों को पहले वह चमत्कार मानता था, वे वास्तव मे सर्वथा वैज्ञानिक हैं। यदि चिकित्सक दृढ़ इच्छा-शक्ति का व्यक्ति है, यदि वह तपस्वी, और परोपकारी ऋषि है, तो उसके स्पर्शमात्र से कोई भी जटिल रोगी अपने रोग से मुक्त हो जा सकता है। इतना ही नहीं भले पुरुष की सद्भावना दूर में रहनेवाले व्यक्ति के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करती है। यदि हम अपने मनोबल को बढ़ावें तो हम रोगी की केवल फोटोग्राफ के द्वारा रोगी को अनेक प्रकार का मानसिक लाभ पहुँचा सकते हैं। डा० विलियम ब्राउन ने इस प्रकार की दैविक चिकित्सा की सम्भावना अपनी 'साइकोलाजी एण्ड साइकोथेरेपी' नामक पुस्तक मे बताई है। हमने अपने मानसिक चिकित्सा के अनुभव मे भी उनके कथन को सत्य पाया है।

मनुष्य अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों से तभी तक पीड़ित रहता है, जब तक उसे अपनी अन्तरात्मा की शक्ति का ज्ञान नहीं होता। मनुष्य का अहंकार उसे इस ज्ञान से रोकता है। जब मनुष्य निरहंकार होकर अपने आप को एक सर्वव्यापी सत्ता में धुला मिला देने का प्रयत्न करता है, तब वह अपने में कल्पनातीत शक्तियों का प्रादुर्भाव होते हुए पाता है। जो व्यक्ति सर्वात्मा की शक्ति को सबके हित के काम में लाता है वह न केवल स्वयं आरोग्यवान बन जाता है वरन् उसके सहज सम्पर्क में आते ही दूसरे लोग भी आरोग्य प्राप्त कर लेते हैं।

मनुष्य में प्रभुत्व की इच्छा

मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक प्रकार की इच्छाओं का बना है। प्रभुत्व की इच्छा उसके व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग है। इस इच्छा के कारण मनुष्य दूसरे लोगो से अपने आप को अच्छा, बलवान, धनवान, कीर्तिवान बनाने की चेष्टा करता है। मनुष्य का व्यक्तिगत विकास प्रभुत्व की इच्छा के कारण होता है। सभी इच्छाओं की सीमित वृद्धि भली है, किन्तु जब एक सीमा से अधिक कोई इच्छा बढ़ जाती है तो वह मनुष्य के विनाश का कारण बन जाती है। प्रभुत्व की इच्छा मनुष्य के अहँकार को बढ़ाती है। इससे उसके शत्रुओं की सृष्टि होती है जो उसका विनाश करते हैं। दूसरों के शोषण की मनोवृत्ति इसी इच्छा के बढ़ने का परिणाम है। इस इच्छा की वृद्धि स्नेह और सामाजिकता की विनाशक है।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों के अनुसार जिस प्रकार काम वासना मनुष्य की मूल इच्छा है इसी प्रकार प्रभुत्व की इच्छा भी मनुष्य की मूल इच्छा है। डा० सिगमंड फ्रायर्ड ने मानव स्वभाव में काम वासना को प्रधानता दी है और अलफ्रेड एडलर ने प्रभुत्व की इच्छा को। वास्तव में दोनों ही प्रकार की इच्छाओं को जो मानव स्वभाव के आवश्यक अंश हैं उनकी समुचित पूर्ति करना मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये और उसके लौकिक जीवन को सफल बनाने के लिये नितांतावश्यक है। समाज मनोविज्ञान की दृष्टि के अनुसार मानव स्वभाव में विदित कोई भी इच्छा अपने आपमे बुरी नहीं है। यदि वह बुरी होती तो स्वयं प्रकृति उसे मानव स्वभाव से अलग कर देती। कोई भी इच्छा अनुचित उपयोग अथवा दमन से बुरी बन जाती है।

जिस मनुष्य में प्रभुत्व की इच्छा की बहुत कमी है वह किसी विशेष दिशामें देर तक प्रयत्न करने में असमर्थ रहता है। प्रभुत्व की इच्छा ही मनुष्य को शारीरिक बल, आर्थिक बल, बुद्धि बल, चरित्र बल अथवा कीर्तिबल को संचित करने के लिये प्रेरित करती है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपमें एक विशेष प्रकार का अनोखापन रखता है। वह ससार से इस अनोखेपन को दिखाकर उससे प्रशंसा प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अर्थात् वह अपनी प्रभुता उनके मन पर जमाना चाहता है। इस इच्छा के कारण ही वह दिनभर और रात-रात भर अथक परिश्रम करता है। यदि अपने परिश्रम का श्रेय किसी व्यक्ति को न मिले तो उसमें परिश्रम करने की प्रेरणा ही उत्पन्न न हो। प्रभुता की इच्छा ही प्रतिभा को विकसित करती है।

जब सभी लोगों में प्रभुता इच्छा की है तो मनुष्य का विवेक उसे दर्शाता है कि

सब लोगों को समान रूप से उसे प्रकाशित करने का अवसर मिले। अतएव कोई मनुष्य को किसी एक विशेष क्षेत्र में प्रभुता प्राप्त करके उसे सभी क्षेत्रों की प्रभुता का ठेकेदार नहीं बन जाना चाहिये। जब मनुष्य सभी क्षेत्रों का स्वामी बनना चाहता है। सभी लोगों से अपनी मनमानी कराना चाहता है तो वह असाधारण व्यक्ति बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने आपको सबसे अधिक बलवान अथवा बुद्धिमान मान लेता है। मनुष्य की विकृत प्रभुत्व की इच्छा उसे विशेष अथवा अद्वितीय प्राणी समझने की प्रेरणा देती है। जर्मन लोग अपने आपको दुनिया के एक मात्र शुद्ध आर्य कहते थे। वे सोचते थे कि जर्मन जाति का यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह दूसरी जातियों पर राज्य करे हिटलर ने इस विचार को इतना अधिक बढ़ा दिया था कि जर्मन जाति दुनियाँ की सभी जातियों को निकृष्ट समझने लगी। इस मान्यता के कारण उन्हें देश-द्रोही यहूदी लोगों को मार डालने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। इसी प्रकार जापानी लोग भी अपने आपको सूर्य पुत्र मानते थे। वे अन्य जातियों को कीड़े मकोड़े के समान मानते थे। पिछली जगत व्यापी लड़ाई मनुष्य की प्रभुत्व की इच्छा के अत्याधिक बढ़ जाने का परिणाम था। यह प्रभुत्व की इच्छा का विकृत रूप है।

मनुष्य में प्रभुत्व की इच्छा इतनी अधिक क्यों बढ़ जाती है कि वह दूसरों के लिये कष्ट दायक बन जाती है? इसका कारण खोजने पर पता चलता है कि वह मनुष्य में आत्म-हीनता की ग्रन्थि से उत्पन्न होती है। जो मनुष्य अपने आपमें किसी प्रकार की कमी की अनुभूति करते हैं, वे इस कमी की पूर्ति किसी दूसरी ओर इतने बढ़ कर करते हैं कि सभी लोग उन्हें देखकर वाह-वाह कह उठें। सभी असाधारण कार्य करने वाले लोगों के आन्तरिक मनमें आत्म-हीनता की भावना वर्तमान रहती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक बचपन में दूसरों से तिरस्कृत होता है वह आगे चलकर दूसरों पर उतना ही अधिकार करने की चेष्टा करता है। बात-बात में पीटे जाने वाले बालक निरंकुश, निर्दय शासक बनते हैं। बचपन में दुर्बल अथवा लड़की कहे जाने वाले लोग नैपोलियम जैसे योद्धा अथवा पहलवान बनते हैं। यह आत्म-हीनता के भाव के दमन की प्रति क्रिया है।

यदि मनुष्य को अपनी हीनता का ज्ञान हर समय रहे, तो वह आत्म हत्या करके ही मर जाय। अपनी हीनता को ज्ञान करना मनुष्य को असह्य हो जाता है। अतएव अपनी हीनता को भुलाने की चेष्टा मनुष्य के अचेतन मन में होती रहती है। इस हीनता के भाव को भुलाने के लिये मनुष्य जिस ओर अपनी उन्नति की आशा देखता है उसी ओर बढ़ता है। कभी विद्वान पिता का पुत्र पहलवान बन जाता है। जब पुत्र पिता की बराबरी विद्या में नहीं कर

पाता तो वह पहलवानी में ही बराबरी करने की चेष्टा करता है। देखने में बद सूरत लोग कभी-कभी बड़े चमत्कार कर दिखाते हैं।

यदि बचपन से ही मनुष्य में आत्महीनता की भावना उत्पन्न न होने दी जाय, तो उसमें प्रभुता की इच्छा भी इतनी प्रबल न हो कि वह दूसरों के लिए हानिकारक बने। बचपन का समय आत्महीनता की मानसिक ग्रन्थि बनने का समय है। जिस बच्चे को माता-पिता का पर्याप्त स्नेह नहीं मिलता, जिसकी बात-बात में आलोचना होती है, वह प्रौढ़ होने पर सभी आसपास के लोगों पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। जब तक दूसरे लोग उसकी प्रभुता मानते हैं वह उन्हें सब कुछ करने को तैयार रहता है, परन्तु जब भी वे उसकी बराबरी करने की चेष्टा करते हैं अथवा उसकी किसी बात का विरोध करते हैं तो वह उनका कट्टर शत्रु बन जाता है। आत्महीनता की मानसिक ग्रंथि के व्यक्ति को अपनी किसी प्रकार की आलोचना असह्य होती है। जिन लोगों में पर्याप्त प्रतिभा होती है वे संसार को एक नया ही दर्शन देने की चेष्टा करते हैं। दूसरों को अपने विचारों का अनुयायी बनाना और अपने विचारों को ही सत्य मानना यह भी एक मानसिक ग्रंथि का परिणाम है। यह प्रभुत्व की भावना का एक विशेष प्रकार का प्रकाशन है।

जब किसी व्यक्ति की प्रभुत्व की भावना का दमन होता है, तो वह व्यक्ति उद्दण्ड, दुराचारी अथवा रोगी बन जाता है। अभी हाल की ही बात है कि काशी मनोविज्ञानशाला में एक बारहवर्षीय स्वरूपवान बालक लाया गया। इसके पाँव में बेड़ियाँ पड़ी थी। उसके कपड़े गन्दे थे और उसका मुख मलिन था। उसके भाई और उसके पिता साथ आये थे। इनसे मालूम हुआ कि यह बालक किसी का कहना नहीं मानता। वह अवारा लड़कों का साथ करता है, सिनेमा जाता है। घर से पैसे चुरा ले जाता है और डाँटने डपटने पर घर से भाग जाता है। जब हमने पूछा पढ़ने-लिखने में कैसा है तो उत्तर मिला पढ़ने-लिखने में तो बड़ा तेज है, प्रथम श्रेणी में अपनी कक्षायें पास करता है। आगे प्रश्न पूछने पर मालूम हुआ कि बालक की माँ मर चुकी है।

इस बालक को हम अलग कमरे में ले गये। उससे पूछा तुम घर में क्यों नहीं रहना चाहते? उत्तर मिला मुझे घर में अच्छा नहीं लगता। पिता और भाई बात-बात पर पीटते हैं। उसने कहा मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं घर में नहीं रहूँगा। पिछले बार यह पन्द्रह दिन पर लखनऊ से पकड़ कर लाया गया था। कहीं सड़क पर या मैदान में सो जाता था। यह लड़का बिना टिकट सब दूर गाड़ी में चलता, चलती गाड़ी में उतरता और चढ़ता था। वह एक बार

अपने छोटे भाई को बहकाकर बम्बई की ओर ले गया था। उसके आन्तरिक मन की इच्छा अपने पिता को अधिक परेशानी में डालने की सदा रहती थी। वे जितना ही बालक का दमन करते थे वह उतना ही अधिक बिगड़ता जाता था। बेड़ी डाल देने के बाद उसने आत्म-हत्या करने की योजना बनाना आरम्भ कर दिया।

हमारे कहने से बालक को बेड़ियों से मुक्त कर दिया। उसकी थोड़ी-थोड़ी इच्छाओं को पूरा किया गया। उसे नये कपड़े बनवाये गये। अब वह बालक एक नई ही ज्योतिवाला बन गया है, परन्तु उसके बड़े भाई से मालूम हुआ कि अब वह अपनी शान अपने छोटे भाई और छोटी बहनों पर जमाने की चेष्टा करता है। वह अपने आपको उनसे बड़ा मानता है और उनपर हुकूमत चलाने का प्रयत्न करता है। परन्तु उसका इस प्रकार का आचरण स्वाभाविक ही है। जिस बालक को बहुत दिन से प्यार नहीं मिला, मारपीट और डाँट-डपट ही मिली, वह अपनी इस कमी को कैसे पूरी करे। इस कमी की पूर्ति तो दूसरों को डाँट-डपटकर उनपर किसी प्रकार अधिकार जमाकर ही हो सकती है। यदि इस कमी की पूर्ति ऐसे न की जायगी तो बालक का जीवन रसहीन ही हो जायगा। फिर वह अपनी कोई प्रतिभा न दिखा सकेगा। उसकी प्रभुत्व की इच्छा दमित होने पर बालक घर से भागने लगा और जब से उसे यह भी न करने दिया गया तो वह आत्म-हत्या करने की सोचने लगा। जो व्यक्ति बार-बार आत्महत्या की इच्छा मन में लाता है, वह या तो राजरोग जैसा दमा, क्षय, हृदय कम्पन आदि द्वारा पकड़ लिया जाता है अथवा पागल बन जाता है। मेलेन्कोलिया, विषाद पैरानोइया नामक जटिल मानसिक रोग और न्यूरस्थेनिया, हिस्टीरिया और दूसरे रोग उसे हो जाते हैं।

देखा गया है कि जिन स्त्रियों को घर में सम्मान नहीं मिलता, यदि उनमें कोई प्रतिभा हुई तो वे किसी न किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक रोग पकड़ लेती हैं। जब रोगी की आन्तरिक इच्छा की अवहेलना होती है तो वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। रोग मनुष्य को मृत्यु से बचाता है। यदि किसी मानसिक रोगी को शारीरिक रोग जैसे दमा, क्षय, हृदय की कम्पन, बवासीर पेट का शूल आदि हो जावे तो वह मृत्यु से बच जाता है। समय के पूर्व उसे इन रोगों से मुक्त करना उसे काल के गाल में पहुँचाना है। ऐसे व्यक्ति का आन्तरिक जीवन इतने मानसिक असन्तोष से भरा रहता है कि रोग के न रहने पर वह आत्महत्या कर लेता है।

सास बहू का मेल एक बड़ा ही कठिन काम है। जब तक सास की चलती है बहू को वह अपनी छाया मात्र बनाकर रखना चाहती है। कोई भी सास नहीं

चाहती कि उसके रहते किसी बात में उसका पुत्र अपनी पत्नी से सलाह ले। जब पुत्र पत्नी को माँ से अधिक प्यार करने लगता है तो माँ का जीवन भारमय हो जाता है। फिर सास मृत्यु का आवाहन करने लगती है और किसी रोग की शरण ले लेती है। यही दशा बहू की होती है यदि वह योग्य हुई और उसे घर का अथवा पति का प्यार कम मिला तो पत्नी की दमित प्रभुत्व की भावना ही उसे रोगी बना देती है।

रोगी मनुष्य घर का विशेष व्यक्ति समझा जाता है। उसी के ऊपर सब की नजर रहती है। बहू के बीमार हो जाने पर न केवल उसका पति वरन् उसके ससुर और सास भी उसके विषय मे चिन्तित हो जाते हैं। इस प्रकार तिरस्कृत नारी की प्रभुत्व की इच्छा पूरी हो जाती है। इसी तरह जब घर में माँ का सम्मान पत्नी की अपेक्षा कम हो जाता है, तो माँ बीमार हो जाती है। फिर लड़का दवाई आदि के लिये चिन्तित रहने लगता है। इस प्रकार रोगी बनकर माँ पुत्र पर अपने अधिकार को विकृत रूप से व्यक्त करती है।

यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो सभी प्रकार की बुराइयों के पीछे मनुष्य के मन में स्नेह की कमी को पावेंगे। स्नेह की कमी होने पर बच्चे में आत्महीनता का भाव पैदा हो जाता है। आत्म-हीनता को भुलाने के लिये प्रभुता की इच्छा उत्पन्न होती है। प्रभुता की इच्छा के दमित होनेपर मनुष्य मे अपराध, उद्दंडता और दुराचार की भावना उत्पन्न होती है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति इन विकृत मार्गों से रोकी जाती है तो मनुष्य रोग की शरण लेता है। समाज और सम्बन्धियों पर प्रभुता जमाने के लिये ही कई मनुष्य अपराधी और रोगी बनते हैं, परन्तु यह सब मानसिक क्रियाये उनके अनजाने ही होती हैं। ये प्रेम की कमी के प्राकृतिक परिणाम हैं। यदि अपराधी को उचित प्रेम मिले, यदि रोगी को उचित सेवा मिले, यदि प्रेम द्वारा उसका हृदय परिवर्तित हो जाय तो न तो अपराध की वृद्धि ही हो न रोग की।

आज के महान विचारकों ने प्रेम की महत्ता को नहीं पहचाना। प्रेम का विचार प्रभुता की इच्छा बन जाता है। यह इच्छा सीमा से बढ़ जाने पर विनाशकारी हो जाती है। प्रेम की वृद्धि होने पर प्रभुता की इच्छा और उसके विकार अपने आप समाप्त हो जाते हैं। प्रभुता की इच्छा का सबसे अच्छा उपचार मनुष्य में मानवमात्र के लिए स्नेह के भावों की वृद्धि है। जिस मनुष्य में सामाजिक भावनाये प्रबल होती हैं जिसके मन में सभी लोगो के प्रति स्नेह उमड़ता है उसमें न तो प्रभुत्व की इच्छा सीमा के बाहर जाती है और न उसे इस इच्छा के दमन के दुष्परिणाम को भोगना पड़ता है।

परीक्षा के भय की प्रतीकता

परीक्षा में बैठने का भय सभी लोगों को कुछ न कुछ होता है। जिस व्यक्ति की परीक्षा की जितनी कम तैयारी होती है उसे परीक्षा से उतना ही अधिक भय होना स्वभाविक है। मनुष्य को किसी संकट पूर्ण घटना के प्रति सामान्य भय होना उसे लाभकारी सिद्ध होता है, अतएव प्रत्येक जीवन के लिये महत्व की घटना का सामना करने के पूर्व मनुष्य को उसके प्रति कुछ भय हो जाता है। परन्तु जब किसी घटना के प्रति किसी व्यक्ति को असाधारण भय हो जावे तो हमे समझना चाहिये कि भय का कारण कुछ दूसरा ही है। ऊपरी भय आन्तरिक मन का प्रतीक मात्र है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चलता है कि जिन लोगों के मन में आन्तरिक संघर्ष चलते रहते हैं, उन्हें घर के बाहर जाने, अकेले रहने, पानी में घुसने, कीड़े मकोड़ों को देखने आदि से विशेष प्रकार का प्रबल भय होता है। इस प्रकार का भय अस्वस्थ भय (न्यूरोटिक फियर) कहलाता है। परीक्षा में उपस्थित होने का असाधारण भय इसी प्रकार का भय है।

गत वर्ष लेखक के एक विद्यार्थी को परीक्षा में बैठने का असाधारण भय था। वह ट्रेनिंग कालेज का छात्र था। देखने में बोलचाल मे और पढ़ने-लिखने में बड़ा योग्य दिखाई देता था। परन्तु उसे कक्षा में जाने से और सुपरवाइजर से असाधारण भय लगता था। जब वह कक्षा में पढ़ाने को जाता तो उसका हृदय धड़कने लगता था। कभी-कभी इसके कारण बोलने में कुछ गड़बड़ी हो जाती थी। वह कई साल से पढ़ना इसलिये छोड़ चुका था कि परीक्षा में बैठने के पूर्व वह बीमार हो जाता था। इस विद्यार्थी के मनोविश्लेषण से पता चला कि किशोरावस्था में उसे हस्तमैथुन की प्रबल आदत थी। रूपवान बालक होने के कारण उसे समलिंगी प्रेम में भी पड़ना पड़ा था। इसके लिये उसकी भारी आत्म-भर्त्सना हुई थी। वह इसे भुला चुका था। परन्तु अब यही पुरानी आत्म-भर्त्सना उसको आगे बढ़ने में रुकावट डालने लगी थी। दूसरों की आलोचना का भय अथवा परीक्षा का भय अपनी ही अन्तरात्मा की आलोचना का प्रतीक थी। वह विद्यार्थी सचमुच में बाहरी परीक्षा से नहीं डरता था। उसे आन्तरिक परीक्षा का डर था, जिसे उसने भुला रखा था। बाहरी परीक्षा अथवा आलोचना के समय उक्त दबा भय उत्तेजित हो जाता था और इसी के कारण व्यक्ति बाहरी परीक्षा अथवा आलोचना से आवश्यकता से अधिक भयभीत हो जाता था। पुराने भय का सम्बन्ध अनेक आचरण से होने के कारण वह चेतना की सतह पर नहीं आता था। जब प्रेम और प्रोत्साहन का वातावरण उपस्थित करके उक्त भय को चेतना

की सतह पर लाया गया और उसकी निरर्थकता बता दी गई तो विद्यार्थी का परीक्षा का भय जाता रहा और उसने उच्च श्रेणीमें अपनी परीक्षा पास कर ली।

एक दूसरे विद्यार्थी को अपनी परीक्षा के पूर्व सदैव कोई न कोई रोग हो जाता था। उसे अपने कालेज की एम० ए० तक की सभी परीक्षा में बीमार अवस्था में ही पास करनी पड़ी। पिछली बार उसकी आँख में अचानक साफ दिखाई देना ही बंद हो गया। आँख की परीक्षा कराने पर कोई रोग न मिला। इस विद्यार्थी के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसे काम वासना सम्बन्धी विशेष पाप की कल्पना त्रास देती रहती थी। उसने एक बछिया को उसकी योनि में अँगुली लगाकर किशोरावस्था में खूब तंग किया था। इससे उसे कामुक आनद मिलता था। पीछे यह बछिया मर गई। युवक के मनमें धारणा हो गई कि वह गो हत्या का भागी है। इस घटना को उसने सभी लोगों से छिपाकर रखा परन्तु यह उसे समय-समय पर त्रास देती रही। इसी के कारण वह अपने से बड़े लोगों के सामने आने में भी झेपता था। वह इसका कारण नहीं जानता था।

एक महिला को परीक्षा में बैठने का इतना भय होता था कि वह परीक्षा भवन में जाते ही बेहोश हो जाती थी। वह कुछ लिख नहीं पाती थी। पढ़ने लिखने में वह बहुत परिश्रम करती थी और यदि वह एक बार भी परीक्षा में बैठ लेती तो अवश्य पास हो जाती। वह तीन बार बी० ए० कक्षा की परीक्षा में बैठी। चौथी बार में उसने किसी प्रकार परीक्षा पास की। इस महिला को हिस्टी-रिया का रोग था। उसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसका प्रेम अनै-तिक दिशा में हो गया था।

लेखक के एक मित्र को एम० ए० परीक्षा मे बैठने में एक भारी यह कठिनाई हो गई कि परीक्षा के समय उनकी आँख आ जाती थी। उन्हें दो बार आगरा से वापस आना पड़ा। दूसरी बार उन्हें इतना दुःख हुआ कि वे रेल से कट-कट मर जाना चाहते थे। इसके बाद वे जब कभी पढ़ने बैठते उनकी आँख आ जाती। उनकी आँख की विचित्र दशा थी। वे यदि बल्ब के नीचे बैठते तो उन्हें एक बल्ब की जगह अनेक एक के नीचे एक दिखाई देने लगते। इस प्रकार के अनुभव उन्हें घबड़ा देते थे। इनका रूप रंग सुन्दर और शरीर से वे हट्टे कट्टे हैं। उनका मनोविश्लेषण नहीं किया गया। उनकी चिकित्सा आत्म-निर्देश विधि और मैत्री भावना के अभ्यास से की गई थी। उन्हें अपने पुराने सभी प्रकार के संस्कारों को स्मरण करने और फिर शिव-भावना का अभ्यास करने को कहा गया था। उनका जीवन ऊँचे नैतिक स्तर का था, अतएव अनुमान किया जाता है कि अपनी अंतरात्मा की प्रबल आलोचना का उन्हें अनुभव होता होगा जिसका ज्ञान उन्हें नहीं था।

गत वर्ष बी० ए० कक्षा के एक विद्यार्थी को भी परीक्षा का भारी भय हो गया था। उसके मनमें बार-बार विचार आया था, कि वह परीक्षा में फेल हो जावेगा। वास्तव में उक्त विद्यार्थी प्रतिभावान था। उसकी बुद्धि असाधारण रूप से प्रबल की। इसका मनोविश्लेषात्मक अध्ययन पहले किया जा चुका था। उसे समाज में उपस्थित होने का, अपने से बड़े लोगो से मिलने का, असाधारण भय था। उसके मनमें कल्पना हो गई थी, कि उसकी सारी मानसिक शक्ति नष्ट हो गई और उसका पढ़ना लिखना असंभव है। इस विचार से परेशान होकर वह आत्म-हत्या कर लेना चाहता था। लेखक के समक्ष उसने अपने कृत्यों की आत्म-स्वीकृति की। उसके मनमें समलिंगी प्रेम और हस्तमैथुन की प्रवृत्ति की प्रबलता थी। उसने वैश्यागमन करने की भी चेष्टा की थी, परन्तु वह इसमें असफल रहा। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध उसने कुछ जाना और अपनी पुरानी प्रवृत्तियों का कठोरता से दमन किया। परन्तु उनका आवेग नष्ट नहीं हुआ था और परीक्षा के समय उसकी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति जाग जाती थी। जब उसने अपने इस भय का रहस्य समझ लिया तो उसका परीक्षा का भय जाता रहा।

जिन व्यक्तियों के जीवन में अपने आपको छिपाने की बहुत सी बातें रहती है, जो अपने कृत्यों को भुला देना चाहते हैं, उन्हें परीक्षा के असाधारण भय हो जाते हैं। ऐसे लोग इस भय के कारण परीक्षा में बैठते ही नहीं अथवा परीक्षा में बैठने पर फेल हो जाते हैं। जो लोग परीक्षा में बैठने का प्रयत्न करते ही रहते हैं वे फिर इस भय को हटाने में समर्थ होते हैं। परन्तु इस भय को हटाने का सरल उपाय अपने आपको समझना और उन कृत्यों को करने से अपने आपको रोकना है जिनके लिये मनुष्य की अन्तरात्मा उसे दुतकारती है। छिपाने की भावना लेकर किसी काम को करने से मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है। जब छिपी बातें प्रकाश में आ जाती हैं तो मनुष्य का मन सब आन्तरिक वेदना से मुक्त हो जाता है। जिस बात को हम दूसरों के समक्ष स्वीकार करने मे डरते हैं उसे हम अपने आपके समक्ष भी स्वीकार नहीं करना चाहते। हम ऐसी बातों को भुला देना चाहते हैं। ऐसी ही अवस्था में हमें परीक्षा का भय होता है। जो व्यक्ति अपने गुप्त भाव दूसरो के समक्ष प्रकाशित करने में जितना अधिक डरता है, वह परीक्षा से भी उतना ही अधिक डरता है। इन प्रकार के भयों को आधुनिक मनोविज्ञान में अन्तरात्मा की त्रास के रोग (डिजीजेज आफ कान्सेन्स) कहा जाता है। जिस मनुष्य का मन साफ रहता है, जिसे अपनी छिपी बातें बाहर आने का डर नहीं रहता उसे परीक्षा का भय भी नहीं होता।

मानसिक शक्ति का संचय

मानसिक शक्ति का संचय विचारोंके नियंत्रण पर निर्भर करता है। जो मनुष्य जितना ही अपने विचारोंकी धारा जिस ओर चाहता है, उस ओर मोड़ने में समर्थ होता है, वह अपनी मानसिक शक्ति का अपव्यय होने से उतना ही रोके रहता है। विचारों पर सामान्य नियत्रण प्रत्येक स्वस्थ पुरुष का होता ही है। मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य के विचार उसके नियंत्रण में नहीं रहते, वह जिस बात को सोचना नहीं चाहता, उसे बरबस सोचना पड़ता है। वह जिस कल्पना को मन में नहीं लाना चाहता, वही बार-बार उसके मन में आती है। मान लीजिये किसी व्यक्ति को अपने फेल हो जाने का, अपने किसी संबंधी की मृत्यु का, अपने आपको किसी रोग द्वारा ग्रसित हो जाने का विचार बार-बार आता है। वह इस विचार को प्रयत्नपूर्वक हटाने की चेष्टा करता है, परन्तु विचार मन से नहीं हटता। ऐसी अवस्था में मनुष्य की मानसिक शक्ति का ह्रास बेहद होता है। इन विचारों के हटाने का प्रयत्न ही मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य के लिए बड़ा घातक सिद्ध होता है। आधुनिक मानसिक चिकित्सा के जन्मदाता इमीलकूये का कथन है कि जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति और कल्पना में विरोध हो तो मनुष्य को अपनी कल्पनाओं को चेतना से बरबस अलग करने की चेष्टा करना हानिकारक सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति का बल जितना ही बढ़ाता है, उसके वर्ग बराबर कल्पना का बल अपने आप ही बढ़ जाता है। अर्थात् यदि मनुष्य की इच्छा शक्ति का बल २ है और उसकी कल्पना का बल ३ है तो यदि मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति का बल ३कर लें तब कल्पना का बल ६ होगा। ऐसी अवस्था से दोनों के संघर्ष में इच्छाशक्ति की हार ही होगी।

मनुष्य की इच्छाशक्ति कल्पना को अपने नियंत्रण में लाने में जितनी बार असफल होती है, उतना ही बल उसका घटते जाता है। अतएव जब कभी मनुष्य को ज्ञात हो जाय कि उसे अपनी कल्पना से संघर्ष करने में असफलता मिलेगी, तब उसे इस प्रकार के संघर्ष के अवसर ही न आने देना चाहिये। मानसिक रोगियों के मन में सदा इच्छा और कल्पना का संघर्ष चलता ही रहता है। इसी कारण वे शक्तिहीन हो जीवन से निराश हो जाते हैं। यदि किसी प्रकार इस संघर्ष को हटा दिया जा सके तो मानसिक शक्ति का अपव्यय होना बंद हो जाय।

मनुष्य का अपने विचारों अथवा कल्पनाओं पर नियंत्रण न रहना, मानसिक

शक्ति की कमी का द्योतक है। यही मानसिक रोग का मूल कारण है। जिस प्रकार शारीरिक शक्ति की कमी की अवस्था में वातावरण में उपस्थित रोग के कीटाणु मनुष्य के शरीर को सरलता से आक्रान्त कर देते हैं, उसी प्रकार इच्छाशक्ति की निर्बलता की अवस्था में मनुष्य के आसपास के वातावरण में उपस्थित जहरीले विचार अनेक प्रकार के रोग के निर्देश बनकर, उसके मन को सरलता से प्रभावित कर देते हैं, और इस तरह वह रोगी बन जाता है। जिस मनुष्य ने अपने विचारों पर नियंत्रण खो दिया, उसने अपने आध्यात्मिक बलको खो दिया। ऐसे व्यक्ति के न तो शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य पर भरोसा किया जा सकता है और न उसके किसी कार्यक्रम का।

जब मनुष्य अपने विचारों का नियंत्रण खो देता है तब वह परवश में हो जाता है। इस अवस्था में उस मानसिक शक्ति के संचय की सलाह देना व्यर्थ सिद्ध होता है। मानसिक शक्ति के संचय की सलाह उसी व्यक्ति के लिए उपयोगी है, जो वर्तमान समय में भी इच्छा शक्ति का बल रखता है, जिसे अपने सामर्थ्य का ज्ञान है और जो आत्मोत्सर्ग के लिये कटिबद्ध है। जिस प्रकार मनुष्य के आर्थिक जीवन मे 'पूँजी ही पूँजी को लाती है' यह नियम सब तरह से सत्य है उसी प्रकार उसके आध्यात्मिक जीवन में भी यह नियम सत्य है कि मनुष्य की संचित मानसिक शक्ति ही अधिक मानसिक शक्ति के उपार्जन में सहायक होती है। दिवालिया पुरुष के पास धन नहीं आता, इसी प्रकार आत्म-विश्वास खोये हुए व्यक्ति में मानसिक शक्ति के संचय का सामर्थ्य नहीं रहता।

जो व्यक्ति अपनी मानसिक निधि की वृद्धि के विषय में सचेत है, उसे प्रतिक्षण सदा यह देखते रहना होगा कि उसके मन में ऐसे विचार तो नहीं आ रहे हैं, जिनका आना उसके वास्तविक हित के प्रतिकूल है। सुख की चाह का प्रत्येक विचार मनुष्य की इच्छा शक्ति को दुर्बल बनाता है। इसी प्रकार दूसरों की निंदा कर उनकी क्षति का विचार मनुष्य को मन में आते समय भला प्रतीत होता है, परंतु इस प्रकार का विचार भी मनुष्य की इच्छाशक्ति हर लेता है। बार-बार इस प्रकार के विचारों के मन में आने से मनुष्य की इच्छाशक्ति इतनी दुर्बल हो जाती है कि वह बाद में इन विचारों का अपने मन में आना रोक ही नहीं सकता। सभी प्रकार के व्यक्तिगत लाभ के विचार सुखद प्रतीत होते हैं। परन्तु ये मनुष्य की इच्छा शक्ति के बल का हरण करते हैं। जब मनुष्य की इच्छा शक्ति कमजोर हो जाती है, तब यदि किसी प्रकार अपनी हानि का विचार मन में प्रवेश पा जाय तो वह पूरे प्रयत्न से हटाने की चेष्टा करने पर भी नहीं हटता। तभी मनुष्य अकारण ही सोचने लगता है कि दूसरे लोग उसकी निंदा करते हैं। वे

उसकी हानि करना चाहते हैं। उसे कोई भारी रोग होने वाला है अथवा उसे धन की हानि होने वाली है, इस प्रकार के विचारों के उधेड़ बुन में वह लग जाता है। कभी-कभी कोई नैतिक समस्या ही उसके मन को पकड़ लेती है और वह किसी प्रकार के निर्णय को मन में नहीं ठहरने देती। वह जो कुछ भी निर्णय करता है, वह बुरा ही दिखाई देता है। इस प्रकार विचारों का तांता सदा चलते रहता है और उसे तोड़ने के प्रयत्न से भी वह नहीं टूटता। जितने विचार मन में आते हैं सभी अप्रिय होते हैं। ये विचार उन विचारों की प्रतिक्रिया हैं जो सुखद बन कर मनुष्य की चेतना के समक्ष आये थे। यदि मनुष्य उन सुखद विचारों का स्वागत न करता तो उसे इन दुखद विचारों के वश में भी न रहना पड़ता।

सचेत मनुष्य को चाहिये कि अपने मानसिक बल को सुरक्षित रखने के लिए जान-बूझकर सदा विचारों के रोकने का अभ्यास करता रहे। साधारणतः मनुष्य की जाग्रतावस्था में उसका चिन्तन अपने आप चलते रहता है। उसका चिन्तन उसकी स्वेच्छा पर निर्भर न कर बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जब चिन्तन करते-करते उसका मन थक जाता है, तब मनुष्य निद्रा का आवाहन करता है। निद्रा इस चिन्तन को समाप्त करके मनुष्य को कुछ समय के लिए आराम दे देती है। इस प्रकार मनुष्य के मन की शक्ति नैसर्गिक रूप से संचित होती है। जब तक मनुष्य ठीक से सो सकता है, उसे किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग सरलता से नहीं पकड़ता। निद्रा में क्षति होना मानसिक रोग के आने की पहली सूचना है। मानसिक रोग आगे चलकर शारीरिक रोग बन जाता है। जो लोग जटिल समस्याओं पर सदा अपनी जाग्रतावस्था में चिन्तन करते रहते हैं, वे सुप्तावस्था में भी आराम नहीं पाते। उनकी निद्रावस्था में उन्हें अनेक स्वप्न दिखाई देते हैं। ये स्वप्न एक प्रकार से उपयोगी ही हैं। इनकी उपस्थिति से मनुष्य थोड़ा बहुत सो लेता है। ये निद्रा के प्रहरी के रूप में हैं। परन्तु इनकी उपस्थिति यह दर्शाती है कि मनुष्य की शान्ति में बाधा डालने वाले अनेक प्रकार के शत्रु उसके मानसिक जगत में वर्तमान हैं। ये शत्रु किसी समय भी मनुष्य के मन को अस्त व्यस्त कर सकते हैं। भयानक स्वप्न देखने वाले व्यक्ति को अपने मानसिक स्वास्थ्य सुधार के लिए सचेत होना नितान्त आवश्यक है।

ऊपर हमने नैसर्गिक रूप से मानसिक शक्ति के संचय का उपाय बताया है। इस उपाय को यदि हम स्वेच्छानुसार काम में ला सकें तो अपने मानसिक स्वास्थ्य को हम बिगड़ने न दें। जो मनुष्य जब चाहें तब सो पाते हैं, वे मानसिक रोग के भागी नहीं होते। परन्तु अधिक सोने वाले व्यक्तियों को मानसिक रोगी ही समझना चाहिये। जो मनुष्य जितना अधिक थकता है, उसे उतने ही अधिक

आराम की आवश्यकता होती है। मानसिक थकावट दो प्रकार की होती है एक बाहरी मन में संघर्ष चलने के कारण और दूसरी आंतरिक मन में संघर्ष चलने के कारण। बाहरी मन में संघर्ष चलने के कारण जो थकावट होती है, उसका निराकरण कड़े काम की निद्रा से हो जाता है और जो थकावट आन्तरिक मन में संघर्ष चलने के कारण होती है उसका निराकरण दीर्घकाल तक सोने से भी नहीं होता न्यूरस्थेनियाँ, एन्जायटी-न्यूरोसिस, आदि रोगों में व्यक्ति बहुत देर तक सोता है और जब सोकर उठता है, तब वह थका हुआ ही रहता है। संसार के बहुत से चिन्तनशील व्यक्ति सोकर भी आराम नहीं पाते। इसका कारण उनके मन में उपस्थित आवेग पूर्ण विचार हैं, जो मन की अचेतन अवस्था में भी चलते रहते हैं और जिससे व्यक्ति की मानसिक शक्ति का सदा अपव्यय होते रहता है।

हम अपनी मानसिक शक्ति का संचय न केवल नैसर्गिक रूप से वरन् प्रयत्न-पूर्वक भी कर सकते हैं। जानबूझ कर मन की गति को रोकना एक महान पुरुषार्थ है। जो इस प्रयत्न को सदा करते रहता है, वह मन का स्वामी बन जाता है। उसकी इच्छा-शक्ति में इतना बल हो जाता है कि वह जिस प्रकार की कल्पना मन में लाता है उसी प्रकार की परिस्थिति बाह्य जगतमें निर्मित हो जाती है। श्री एडवर्ड कारपेंटर का इस प्रसंग में यह कथन उल्लेखनीय है कि तुम अपने किसी विचार को तत्क्षण के लिए मार दो फिर तुम उसको जैसा चाहोगे वैसा बना सकोगे। मान लीजिये हमारे मन में बारम्बार किसी प्रकार के लाभ का विचार आता है, वहाँ मनुष्य का कल्याण इस बात में है कि वह इस विचार को जान-बूझकर बलपूर्वक हटा दे। अपने आपको उसके वश में न होने दे। फिर यही विचार उस लाभ में परिणत हो जाता है जिसे मनुष्य चाहता है। जब अपने व्यक्तिगत लाभ का विचार चेतन मन से हटा दिया जाता है, तो वह मनुष्य के अदृश्य मानसिक जगत्में लुप्त हो जाता है। फिर वह तदनुसार अपनी शक्ति का संचय करता है और जो मनुष्य चाहता है उसके अनुसार बाह्य परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेता है। मन ही बाह्य परिस्थितियों का जनक है।

जब मनुष्य अपने लाभ के विचार के वश में हो जाता है तो वह उस लाभ में आनेवाली अनेक प्रकार की बाधाओं के विषय में सोचने लगता है। यह चिन्तन करते-करते मनुष्य का रचनात्मक विचार ध्वंसात्मक बन जाता है। इस प्रकार उसकी मानसिक शक्ति व्यर्थ ही खर्च हो जाती है। आवेशपूर्ण विचार को मन से सदा हटाते रहने के प्रयत्न से ही मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवान होती है। इसी से मनुष्य की मानसिक शक्ति का संचय होता है।

मानसिक शक्ति के संचय के लिये मनुष्य की धार्मिक भावनाये बहुत काम

जाता है। धार्मिक भावनाओं का केन्द्र किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा है। इस व्यक्ति के गुणों का चिन्तन करने से व्यक्तिगत स्वार्थ के विचार चेतना से अलग हो जाते हैं। लौकिक विचारों की शृंखला का टूटना मनुष्य की मानसिक शक्ति के संचय के लिये नितांत आवश्यक है। इस प्रकार की शृङ्खला किसी महान पुरुष के गुणों के ध्यान से टूट जाती है। इतना ही नहीं इस व्यक्ति से स्नेह करने से उसके साथ तादात्म्य भाव स्थापित हो जाता है और जिस प्रकार उस व्यक्ति का मन चिन्तामुक्त है उसी प्रकार स्वत: का मन भी चिन्तामुक्त हो जाता है।

अपने भीतर विचारों के परे नित्य तत्व की उपस्थिति में विश्वास बढ़ने से और उसके विषय में नित्यप्रति चिन्तन करने से भी मनुष्य अपने लौकिक विचारों की दासता से मुक्त हो जाता है। दार्शनिक विचारों का एक लाभ मनुष्य को लौकिक लाभसे उदासीन बनाना है। इससे मनुष्यका तत्सम्बन्धी विचारोंकी दासता से मुक्त हो जाना ही सर्वोत्तम दार्शनिक विचार का अन्तिम लक्ष्य है। दार्शनिक विचार किसी बाह्य मूल्य को नहीं देता। वह अपने आप में निहित मूल्य का हमें ज्ञान करता है। सभी बाह्य भूत और सत्ता में विचार निर्मित हैं। इन सभी की वास्तविकता में शङ्का हो जाती है। जिस तत्व के विषय में शङ्का नहीं होती वह विचार के परे, देश-काल-कारण कार्य भाव से मुक्त मनुष्य का स्वरूप ही है। इसी को कान्ट, फिक्टे, ग्रीन, ब्रेडले महाशयों ने पश्चिम की भाषा मे स्वतंत्र इच्छा-शक्ति कहा है। जो इस इच्छा के विषय में जितना ही चिन्तन करता है वह उतना ही अधिक अपनी मानसिक शक्ति का संचय करता है। विचार के विषय में विचार करने से भी मनुष्य की मानसिक शक्ति का संचय होता है।

मानसिक शक्ति के संचय का व्यवहारिक उपाय प्रतिदिन शैथिलीकरण करना है। मनुष्य अपनी शारीरिक क्रियाओं पर जितनी सरलता से नियंत्रण प्राप्त कर सकता है वह अपनी मानसिक क्रियाओं पर उतनी सरलता से नियंत्रण प्राप्त नहीं कर सकता। मानसिक क्रियाये शारीरिक क्रियाओं से अधिक सूक्ष्म हैं। अतएव यदि मनुष्य प्रतिदिन शारीरिक शैथिलीकरण का अभ्यास करे तो उसके मन में चमत्कारिक परिवर्तन हो जावे। फिर वह अपने विचारों पर भी धीरे-धीरे नियंत्रण प्राप्त करने में समर्थ हो जाय। शारीरिक शैथिलीकरण के द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का निराकरण होता है। यह अभ्यास जिस प्रकार रोगी व्यक्ति के लिये लाभकारी है वह सामान्य व्यक्ति के लिये भी लाभकारी है। इस अभ्यास से व्यक्ति को मानसिक शान्ति आती है और उसकी अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। इस अभ्यास से व्यक्ति के चित्त की एकाग्रता, स्मरण शक्ति और इच्छाशक्ति बलवती होती है और उसका अपने सामर्थ्य में विश्वास बढ़ता है।

आत्म-सम्मोहन

आत्म-सम्मोहन साधारण जनता के लिए क्या मनोवैज्ञानिकों के लिए भी एक नया शब्द है। जब कुछ मनोवैज्ञानिकों ने आटो-सजेशन का प्रयोग किया था तब दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने यह कह कर विरोध किया था कि सजेशन वहीं काम करता है जहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर अपना प्रभाव उसके अनजाने डाल देता है। ऐसी अवस्था में आटो-सजेशन नामक कोई मानसिक क्रिया होना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि जब कोई व्यक्ति अपने ही आन्तरिक मन पर कोई प्रभाव डाले तो स्वत ही उसे इसका ज्ञान रहेगा ही। निर्देश (सजेशन) अचेतन मन को प्रभावित करने की क्रिया का नाम है। अपने आप द्वारा अचेतन मन को इस प्रकार प्रभावित करना कि स्वतः को भी ज्ञान न हो कि कैसे वह प्रभावित हो गया यह एक असम्भव सी बात दिखाई देती है। परन्तु आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रयोग द्वारा बताया है कि आटो-सजेशन (आत्मनिर्देश) वास्तव में होने वाली एक मानसिक क्रिया है और इसका मनुष्य के जीवन-विकास में महत्व का स्थान है। जो कार्य मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के बल से नहीं कर सकता, इस कार्य को कभी-कभी वह आत्म-निर्देश के द्वारा कर डालता है। यदि हमें किसी प्रकार की जटिल आदत पड़ी हुई है जिसे हम अपने लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं छुड़ा पाते, इसे हम आत्म-निर्देश की सहायता से छुड़ा पाते हैं। तम्बाखू, सिगरेट पीने की, बात-बात मे चिढ जाने की, व्यभिचार की, जटिल आदतें आत्म-निर्देश के अभ्यास से सरलता से छूट जाती हैं। डा० विलियम ब्राउन ने हजारों रोगियों को आत्म-निर्देश की सहायता से उनके जटिल रोगों से मुक्त कर दिया।

जिस प्रकार आत्म-निर्देश की वास्तविकता से आधुनिक मनोवैज्ञानिक परिचित हो रहे हैं इसी प्रकार आत्म-सम्मोहन की वास्तविकता से भी आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिक परिचित हो रहे हैं। आत्म-सम्मोहन का एक उदाहरण बड़ा मनोरंजक है। एक महिला को आत्म-सम्मोहन द्वारा सो जाने की आदत पड़ गई थी। एक दिन उसने इस अभ्यास को शहर की चौमुहानी पर खड़े-खड़े किया। वह इस समय सो गई। पुलिस के आदमी ने देखा कि कोई महिला बेसुध खड़ी है। उसने उसे वहाँ से हटा कर किनारे पर बिठा दिया और फिर उसे अस्पताल भेज दिया गया। डाक्टर लोगों ने उसे बेहोश अवस्था मे जान कर होश में लाने की चेष्टा की। परन्तु वे उसे चेतना मे नहीं ला सके। डाक्टरों के लिए यह एक नया अनुभव था। वह महिला आठ दस घंटे बेहोश रहने के

स्वतः अपने आप आ गई। इस घटना से यह निश्चित हुआ कि आत्म-सम्मोहन द्वारा सोया हुआ व्यक्ति डाक्टर के प्रयत्न से भी नहीं जागता।

आत्म सम्मोहन के द्वारा मनुष्य न केवल अपने सम्पूर्ण चेतन मन को सुला सकता है, वरन् वह अपने मन के किसी एक भाग को अथवा अपनी किसी विशेष इन्द्रिय को सुला सकता है। इस प्रकार आत्म-सम्मोहन के द्वारा मनुष्य निन्दा और स्तुति जन्य उद्वेगों से मुक्त हो सकता है। वह अपनी काम शक्ति को अपनी इच्छानुसार सुला दे सकता है अथवा अपने शरीर के विशेष अंग को शून्य बना सकता है। वह अपने हाथ को इस प्रकार वेदनाहीन कर सकता है कि यदि उसमें सुई चुभाई जाय तो कोई दुख सुख का अनुभव न हो। यदि किसी रोगी के पेट में पीड़ा हो गई हो तो वह आत्म-सम्मोहन द्वारा उस पीड़ा से अपने आप को मुक्त कर सकता है। सम्मोहन का असर शरीर के अवयवों पर उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार का असर कोकीन के इन्जेक्शन का होता है। जिस प्रकार दाँत का डाक्टर कोकीन इन्जेक्शन देकर दाँत को इस प्रकार निकाल लेता है जिससे कि निकालने में कोई पीड़ा न हो, इसी प्रकार आत्म-सम्मोहन द्वारा मनुष्य अपने किसी भी अंगको इतना निर्जीव बना सकता है कि उसमें किसी प्रकार की चोट लगने पर उसे कोई पीड़ा की अनुभूति नहीं होती।

निर्देश को सफल बनाने के लिए किसी न किसी प्रकार का सम्मोहन आवश्यक है। सम्मोहन के द्वारा सम्मोहक दूसरे व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना को अथवा केवल उसकी तार्किक बुद्धि को सुला देता है। फिर जिस प्रकार का निर्देश सम्मोहक सम्मोहित व्यक्ति को देता है उसी के अनुसार सम्मोहित व्यक्ति काम करने लगता है। वह अपने आप में रोग अथवा आरोग्य की अनुभूति उसी प्रकार करने लगता है जिस प्रकार के निर्देश वह दूसरे व्यक्ति से पाता है। सम्मोहन का काम साधारण चेतना को सुलाना है और निर्देश का काम अन्तर्हित चेतना को क्रियमाण बनाना है। सम्मोहन के बिना निर्देश सम्भव नहीं।

अब जिस प्रकार हम दूसरे द्वारा सम्मोहित अथवा निर्देशित होते हैं उसी प्रकार हम अपने आप द्वारा भी सम्मोहित व निर्देशित हो सकते हैं। व्यक्ति के मन में सदा अनेक प्रकार के कुतर्क चला करते हैं। इन कुतर्कों के कारण वह अपने आपको किसी रचनात्मक कार्यों में नहीं लगा पाता और अपने किसी निश्चय पर स्थिर नहीं रह पाता। जिस व्यक्ति का मन अति चंचल है उसे आत्मसम्मोहन की नितान्त आवश्यकता रहती है। यदि वह किसी प्रकार का आत्म-सम्मोहन का अभ्यास न करे तो वह किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य ही न कर पाये। जब मनुष्य को कोई मानसिक और शारीरिक रोग हो जाता है तब उसके मन में

अनेक प्रकार के निराशावादी विचार आते रहते हैं। यदि कोई इन विचारों को हटाने की चेष्टा करे तो वह असमर्थ रहता है। क्योंकि उनके वे विचार अचेतन मन में चले जाते हैं और वहीं अपना स्थान कर लेते हैं। अचेतन मन में बैठे हुए विचारों को हटाने के लिए यह आवश्यक है कि दूसरे प्रकार के प्रबल विचार व्यक्ति के मन में डाले जायँ; परन्तु व्यक्ति की तार्किक बुद्धि इन नए विचारों को आन्तरिक मन में न प्रविष्ट होने दे। इसलिए सम्मोहन की नितान्त आवश्यकता होती है। इसके द्वारा व्यक्ति की तार्किक बुद्धि सुप्त हो जाती है और फिर जैसे भी विचार व्यक्ति के आन्तरिक मन में डालना चाहते हैं डाला जा सकता है। हम स्वयं इस तरह आत्म-सम्मोहन द्वारा अपनी तार्किक बुद्धि को शान्त करके अपने भीतरी मन को बदल सकते हैं।

इमीलकूए महाशय ने यह खोज की, कि व्यक्ति के सोते समय के विचार उसके स्वास्थ्यलाभ में अथवा उसके स्वभाव के बदलने में बड़े ही उपयोगी होते हैं। यदि कोई व्यक्ति प्रति दिन यह कहते हुए सोये कि वह हरेक तरीके से हरेक बात में उन्नति कर रहा है तो वह कुछ ही काल में अपने आपको परिवर्तित व्यक्ति पायेगा। जिस तरह साधारण निद्रा के पूर्वके विचार व्यक्ति को आनन्द प्राप्त करने में बड़े ही उपयोगी होते हैं उसी प्रकार सम्मोहन-निद्रा के पूर्व के विचार व्यक्ति के स्वास्थ्य के बनाने मे बड़े उपयोगी होते हैं। यदि कोई व्यक्ति ढीले अंग करके स्वांस-प्रश्वास पर ध्यान देते हुए सो जाय और इस सोने के पूर्व उसकी भावना भली हो तो वह अवश्य ही कुछ ही दिन में एक परिवर्तित व्यक्ति हो जायगा। आत्मसम्मोहन के लिए हमें अपने आपको उसी प्रकार वशीभूत करना पड़ता है जिस प्रकार सम्मोहक सम्मोहित व्यक्तिको वशीभूत करता है। जिस तरह सम्मोहक सम्मोहित व्यक्तिको अपने आपको ढीला अंग करके पड़ जाने को कहता है और किसी एक बिन्दु पर ध्यान एकाग्र करने के लिए तथा नींद के बारे में सोचने के लिए कहता है इसी प्रकार हम स्वयं अपने आपका शरीर शिथिल करके शरीर की किसी क्रिया पर चित्त एकाग्र रखते हुए सोने का विचार मन में लाते हुए सो सकते हैं। और जिस तरह इस सम्मोहित अवस्था मे सम्मोहक सम्मोहित व्यक्ति को जो सुझाव देता है उसके अनुसार सम्मोहित व्यक्ति सोचने लगता है अथवा आचरण करने लगता है इसी तरह हम स्वयं भी अपने आपको आत्म-निर्देश देकर सम्मोहन निद्रामें पड़ जानेसे उस निर्देश के अनुसार क्रिया और विचार में बदल जाते हैं।

सम्मोहन की सफलता बहुत कुछ दो व्यक्तियों के आपस की हार्दिक एकता पर निर्भर करती है। सम्मोहन दो प्रकार का होता है। एक स्नेह युक्त और दूसरा

भययुक्त। स्नेहयुक्त सम्मोहन सदा लाभकारी होता है और भययुक्त सम्मोहन हानिकारक होता है। आत्मसम्मोहन की अवस्था में भी जो लोग अपने आपको बुरा नहीं मानते; जो समझते हैं कि उनके मन में काम करनेवाली सभी प्रवृत्तियाँ उपयोगी हैं वे न केवल शीघ्रता से आत्म-सम्मोहन की स्थिति में आ जाते हैं; वरन् अपने शुभ निर्देशों द्वारा प्रतिदिन उन्नत होते जाते हैं। सारे संसार को स्नेह करनेवाला व्यक्ति अपने मन को जितना जल्दी वश में कर सकता है, उतना जल्दी संसार से द्वेष करनेवाला व्यक्ति अपने मन को वश मे करने में समर्थ नहीं हो सकता। वह अपने मन की चंचलता को किसी प्रकार वश में नहीं कर पाता।

इच्छाशक्ति का बल

जिस मनुष्य की इच्छा-शक्ति कमजोर होती है, उसके समान दु:खी कोई नहीं होता। कमजोर इच्छाशक्ति का व्यक्ति अपने निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाता। वह जिस किसी निर्णय पर आवे उसमें थोड़ी ही देर में दोष दिखाई देने लगता है और वह अपने किये के लिये पछताने लगता है। उसे बाध्य होकर अपने पुराने निर्णय को बदल देना पड़ता है। इस प्रकार जब वह नये निर्णय पर आता है तो उसे फिर चैन नहीं मिलता। वह इस निर्णय को मिटाने के लिये बाध्य हो जाता है। सदा डावाँडोल मन रहने के कारण वह अनेक कामों में हाथ डालता है परन्तु किसी को भी पूरा नहीं कर पाता इस प्रकार की मनोवृत्ति का उदाहरण श्री मारगन महाशय ने अपनी साइकोलोजी आफ दी अनएडजस्टेड स्कूल चाइल्ड नामक पुस्तक में दिया है।

एक नवयुवक एक दूकान पर एक नया टोप खरीदने गया। उसने कई टोपों को देख कर एक खरीद लिया। परन्तु ज्योंही वह उसे लेकर चला उसके मन में अकारण ही विचार आया कि उसे टोप को खरीदना न चाहिये था। कुछ दूर जाकर वह लौटने लगा। फिर कुछ कदम चल के उसके मन में विचार आया कि मैं अनुचित कार्य कर रहा हूँ। मैं टोप वाले से क्या कह कर इस टोप को लौटाऊँगा। वह मेरे बारे मे क्या सोचेगा? इन विचारों ने उसे फिर आगे बढने को बाध्य किया। दो बार फिर भी उसके मन में टोप को वापस करने और न वापस करने के विचार आये और इसके कारण वह आगे पीछे आता रहा।

इसी प्रकार जब उसने एक नई चेक बुक बैंक से ली थी तो उसके लौटा देने के विषय में विचार आये थे। एक बार उसने अपने मित्र को सेना में भरती होने के इरादे को लिखा था तब भी बारबार डाँवाडोल मन हो गया था। कभी वह लिखता था कि वह सेना में भरती होगा कभी नहीं भरती होगा, और यह सब अकारण सा ही होते दिखाई पड़ता था।

इस प्रकार की मानसिक अवस्था उन लोगों के मन की हो जाती है जो विद्वान् और प्रतिभावान व्यक्ति हैं। इस प्रकार की मानसिक स्थिति के कारण समाज उनकी सेवा से वंचित रह जाता है। उन्हें विश्वास ही नहीं रह जाता कि वे अपने किसी भी निश्चय पर दृढ रह सकेंगे अथवा नहीं। मन की डँवाडोल अवस्था प्रतिभावान व्यक्ति की मानसिक शक्ति को नष्टकर डालती है। इसके कारण कभी-कभी कम बुद्धि के लोग उन लोगों की अपेक्षा अधिक काम कर डालते हैं। संसार का विरला ही तीव्र बुद्धि का व्यक्ति कर्तव्य क्षेत्र का सामाजिक नेता होता है। जिस प्रकार व्यावहारिक

[बातों] के विषय में कम सोचना हानिकारक है इसी प्रकार अधिक सोचना भी [हानिकारक] है। व्यावहारिक प्रश्नों के विषय में अधिक सोचने वाला व्यक्ति जब [भी] किसी काम की योजना बनाता है तो दूसरे ही क्षण उसे अपनी योजना क्षुद्र [दिखाई] देने लगती है। उसके मन में उसकी सफलता के विषय में अनेक संदेह [उत्पन्न] होने लगते हैं और इस कारण वह अपने पहले के चिन्तन के फल को [नष्ट] कर डालता है।

किसी भी विचार के फलित होने के लिये उसे देर तक पकड़े रहना आवश्यक है। [जब] कोई विचार मनुष्य के चेतन मन से अचेतन मन में चला जाता है तभी उसमें फलित होने की शक्ति आती है। जब किसी विचार को हम आशायुक्त [भा]वना से देर तक धारण किये रहते हैं तो वह विचार अपने फलित होने के लिये अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण भी कर लेता है। वाह्य जगत हमारे आन्तरिक [जगत] की स्थिति के सापेक्ष होता है। जैसी हमारी आन्तरिक परिस्थिति होती है उसी प्रकार का बाहरी जगत भी दिखाई देता है। जो मनुष्य अपने संकल्प पर दृढ़ है उसे बाहर से भी अपने काम में पर्याप्त सहायता मिल जाती है। संकल्प की दृढ़ता न रहने पर बाहरी सहायक भी अपना हाथ खींच लेते हैं।

जब कोई मनुष्य अपने पहले के निश्चय को पलट देता है तब वह अपनी पुरानी मानसिक शक्ति को नष्ट कर डालता है। मनुष्य की बुद्धि किसी काम का निश्चय करती है और उसकी कल्पना उसके निश्चय को वाह्य जगत में व्यक्त होने में कारण बनती है। क्रिया कल्पना की अनुगामी है न कि बौद्धिक विचार की। जब कोई विचार स्थिर हो जाता है तब कल्पना उसके पीछे-पीछे जाने लगती है अर्थात् कल्पना छोटी-छोटी बातों का चित्रण करने लगती है फिर जिस प्रकार का चित्र कल्पना मनुष्य के मन में खींचती है उसी प्रकार का कार्य अपने आप ही होने लगता है। कार्य के करने पर मनुष्य को अपनी शक्ति का ज्ञान होता है और यही ज्ञान उसकी इच्छाशक्ति का बल बन जाता है। जिस मनुष्य में जितनी अधिक कार्यक्षमता रहती है उसकी इच्छाशक्ति उतनी ही अधिक बलवान होती है। मनुष्य में कार्यक्षमता अनायास नहीं आ जाती, वह काम करने से ही आती है। जिस मनुष्य का कार्य करने का अभ्यास जितना अधिक होता है उसकी इच्छा-शक्ति उतनी ही बलवान होती है।

पुस्तक के पढ़नेवाले विद्वानों की इच्छाशक्ति प्राय: निर्बल होती है। पहले तो पंडितोंको अपने स्वतन्त्र निर्णय का अवसर ही कम मिलता है। अनेक विचारों का प्रवाह एक साथ मनमें दौड़ने से मनुष्य की स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति जाती रहती है। वह क्या ठीक है और क्या नहीं, यह निश्चय नहीं कर पाता है। फिर

विद्वान लोग केवल विचार के क्षेत्र में ही रह जाते हैं, विरले ही विद्वान् व्यावहारिक कार्य क्षेत्र में पैर रखते हैं। इसके कारण उन्हें अपने निश्चयों की मौलिकता समझने का अवसर ही नहीं मिलता। फिर व्यावहारिक जगत में कार्य न करने के कारण बुद्धि में प्रवीण इन पण्डितों की कल्पनाशक्ति और इच्छाशक्ति को बली बनने का अवसर ही नहीं मिलता। अतएव ऐसे लोग सरलता से ही अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण कर डालते हैं और इस प्रकार के आचरण को ठीक बताने के लिये कोई झूठा सन्तोष देने वाला कारण मन से गढ लेते हैं। अतएव केलव पोथी पंडितों की नैतिकता का भरोसा नहीं रहता। जिस मनुष्य की इच्छाशक्ति कमजोर है उसके सिद्धान्तों का क्या भरोसा।

देखा जाता है कि साधारण आदर्श वालों की अपेक्षा ऊँचे आदर्श वाले व्यक्तियों की इच्छाशक्ति बलवान नहीं, निर्बल ही होती है। इसका एक कारण यह है कि अत्युच्च आदर्शवाले व्यक्ति कभी भी अपने आदर्श के अनुरूप अपने आचरण को नहीं बना पाते। अपने आचरण में थोड़ी सी कमी रह जाने पर वे आत्म-भर्त्सना करने लगते है। इससे उनकी इच्छाशक्ति का बल जितना नष्ट होता है दूसरी किसी बात से उतना नष्ट नहीं होता। अत्युच्च आदर्शवादी व्यक्ति जब अपने आप को कोसते-कोसते थक जाता है तो वह अपनी विफलता का प्रमुख कारण भूल जाता है और उस कारण को किसी बाहरी पदार्थ पर अथवा व्यक्ति पर आरोपित कर देता है। अर्थात् वह समाज को, किसी व्यक्ति को, अथवा काल को ही दोषी ठहराने लगता है। इस प्रकार संसार में निकम्मे लोग अपनी इच्छाशक्ति की कमजोरी को बाहरी परिस्थिति को दोष देकर छिपाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार वे अपनी इच्छा-शक्ति को और भी कमजोर कर लेते हैं।

अत्युच्च आदर्शवादिता वास्तव मे अपनी कमजोरी का आवरण होती है। अपनी प्राकृतिक इच्छाओं के प्रवाह में बह जाने वाला व्यक्ति जब पश्चात्ताप करते-करते थक जाता है तो वह एक झूठी आदर्शवादिता को ग्रहण कर लेता है। ऐसा व्यक्ति अपने आप को दूसरे लोगों मे विलक्षण बनाने की चेष्टा करता है। परन्तु उसकी प्राकृतिक शक्ति उसके काबू मे न रहने के कारण वह क्रियाशील नहीं होता। वह थोड़ा काम करने पर ही थक जाता है। उसे अपना कोई भी काम संतोष नहीं देता। वह फिर अपनी कमजोरी छिपाने के लिये रोग का आवाहन करता है और इस प्रकार रोगी बन जाता है। ये रोग व्यक्ति की झूठी आदर्शवादिता के परिणाम होते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने किसी भी निर्णय को दोष रहित नहीं देखता। वास्तव में उसका भीतरी मन उसकी आदर्शवादिता का साथ नहीं देना चाहता, इसलिये ही वह अपने सभी निश्चयात्मक विचारों में दोष देखने

करता है। मनुष्य का अचेतन मन ही कल्पनाओं की रचना करता है जिनके अनुसार क्रिया होती है। जब मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में विषमता रहती है तो कल्पना विचार का साथ नहीं देती, अतएव मनुष्य में क्रिया करने की प्रेरणा भी उत्पन्न नहीं होती। इस तरह अधिक ऊँचे आदर्शवादी व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति का बल दिन प्रतिदिन खोते ही जाता है।

इच्छाशक्ति को बलवान् बनाने के लिए मनुष्य को पहले-पहल अपने आपको भली प्रकार से समझना चाहिये। जब वह अपने आपमें ऐसी आदर्शवादिता देखे कि जो उसे निकम्मा बनाने लगे तो उसे आत्म-विश्लेषण करके समझ लेना चाहिये कि यह आदर्शवादिता झूठी है। आदर्शवादिता का आधार मनुष्य के स्वभाव में नहीं होता, वह मनुष्य की मानसिक प्रगति का साधक न बनकर उसकी बाधक ही बनती है। मनुष्य की कार्यक्षमता मनुष्य की स्वाभाविक कृतियों की शक्ति के ऊपर ही निर्भर करती है। अतएव हमारी आदर्शवादिता का इनसे सम्बन्ध न छूटना चाहिये। आदर्शवादिता इनका उदात्तीकरण करे, उनका दमन करने और उनकी विकृत अवस्था पर पर्दा डालने की चेष्टा न करे, तभी मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान् होती है।

जिस प्रकार आत्म-ज्ञान की वृद्धि, अर्थात् अपनी वास्तविक कमजोरियों और स्वाभाविक शक्ति का ज्ञान मनुष्य की इच्छाशक्ति को दृढ बनाता है। इसी प्रकार रचनात्मक कार्य में लगे रहना मनुष्य की इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाता है। कितने ही विद्यार्थी बहुत देर तक सोचते रहते हैं कि वे एक पुस्तक को पढ़ें अथवा दूसरी को, इसी बीच कर्मठ विद्यार्थी उन दोनों पुस्तकों को ही पढ़ डालता है। कुछ न करने से कुछ करते रहना ही चरित्र निर्माण की दृष्टि से भला है। जो व्यक्ति एक काम कर सकता है वह दूसरा काम भी समय आने पर कर सकता है। हाथ के काम को कभी भी महत्वहीन न समझना चाहिये। बुद्धि के काम से हाथ का काम भले नीचा क्यों न हो, वह इच्छाशक्ति को बलवती बनाने के लिये बुद्धि के काम से अधिक महत्व रखता है।

मन की डावाँडोल अवस्था को किसी न किसी प्रकार अन्त कर देना और एक निर्णय पर आ जाना साधारण मनुष्य को भी समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति बना देता है। संसार के बड़े-बड़े चिन्तक अपने निर्णयों के विरुद्ध सरलता से आचरण नहीं करते थे। यदि वे ऐसा करते तो वे कुछ भी कार्य संसार में न कर पाते और अपने आपकी भर्त्सना करते हुए ही मरते। अपने निश्चय को बराबर उलट देने की मनोवृत्ति छिपी हुई पाप की मानसिक ग्रन्थि की सूचक होती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति दबी हुई अभद्र भावना का परिणाम होती है। मनुष्य जिस बात से डर-

कर आगे कदम रखने से रुकता है वह बात उसकी दबी हुई विस्मृत पाप भावना से सम्बन्धित रहती है। जब इस भावना का रेचन हो जाता है तो मनुष्य के निर्णय की शक्ति भी बढ़ जाती है।

मान लीजिये किसी व्यक्ति के मन में किसी सम्बन्धी की हत्या करने की भावना उठी। इस भावना को अनैतिक जान कर दबा दिया गया और उसकी स्मृति को भुलाने के लिये पर्याप्त यत्न किया गया। अब यह पुरानी भावना अपनी शक्ति को न खोकर चेतन मन के किसी भी साहस के निर्णय में बाधक बन जाती है। एक व्यक्ति अपनी विमाता के व्यवहार से रुष्ट होकर उसके मार डालने अथवा अपने पिता पर बदला निकालने की सोचता है। परन्तु इस प्रकार की कल्पना मन में आते ही वह अपने आपको धिक्कारने लगता है। पीछे वह साधु जैसा बन जाता है। उसकी पुरानी अनीति की भावना दब जाती है। ऐसा ही व्यक्ति आगे चल कर बात-बात मे अपने कामों की नुक्ताचीनी करने लगता है। जब कभी वह इस मनोवृत्ति के पार जाता तो वह दूसरे लोगों के चरित्र की आलोचना मे लग जाता है। वह शीघ्र ही अपने आस पास दु ख का और निकम्मे मन का वातावरण तैयार कर लेता है। अब उसका जीवन उसे भार रूप हो जाता है।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मनुष्य को एकान्तता का जीवन छोड़कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना कल्याणकारी है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी बीच के मार्ग को श्रेयस्कर बताया है। उनके ये उपदेश आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों द्वारा उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। अपनी नैतिक बुद्धि को व्यावहारिक बनाना अपनी इच्छा-शक्ति को बलवती बनाने का सर्वोत्तम उपाय है। इससे मनुष्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार होता है और जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने आपको रचनात्मक कार्य में लगाये रहता है, वह उतना ही अधिक इच्छा-शक्ति में दृढ़ होता है। कड़ी आलोचना चाहे वह दूसरों की हो अथवा अपनी ही मनुष्य की रचनात्मक शक्ति और कार्य क्षमता की विनाशक होती है। जो मनुष्य केवल देवताओं जैसा ही बनना चाहता है वह अन्त में रोते रोते मरता है।

किसी भले काम करने का समय टालना अच्छा नहीं। एक क्षण का भला काम दूसरे क्षण के भले काम के लिये सहायक होता है। इच्छा शक्ति को बली बनाने के लिये अपने प्रत्येक भले निर्णय के अनुसार काम करने लग जाना आवश्यक है। एक एक डग चलते चलते एक कोस आ जाता है।' इस प्रकार एक एक काम करके चरित्र की भव्य इमारत तैयार हो जाती है। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है।

जिस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य का स्वभाव एक प्रकार का रहता है उसी

प्रकार वह अभ्यास से दूसरे प्रकार का बन जाता है। अतएव जो मनुष्य जितना ही रचनात्मक कार्य कर सके उसे उतना ही अपने आपको भाग्यशाली मानना चाहिये। एक काम दूसरे काम के करने की योग्यता मनुष्य में बढाता है।

मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति का बल बढ़ाने के लिए अपनी कमजोरियों का अत्यधिक चिन्तन करना हानिकारक होता है। अंग्रेजी में कहावत है कि जो व्यक्ति सोचता है कि मैं अमुक कार्य कर सकता हूँ वह उस कार्य को कर सकता है। जो व्यक्ति सोचता है कि मेरी कमजोरियाँ मुझे खाई जा रही हैं उनसे छुटकारा नहीं पा सकता। उसका अपनी कमजोरियों से मुक्त होना कठिन है। उसे जितना ही कम यह विचार आवे उतना ही भला है। नकारात्मक विचारों को मन से अलग करने के लिए ही रचनात्मक कार्य करते रहना आवश्यक होता है।

इच्छाशक्ति को बलवान बनाने के लिए मनोवृत्तियों को विषय सुख में जाने से रोकने का अभ्यास करने की अपेक्षा उन्हें किसी भले काम में लगाना अधिक अच्छा है। पहला उपाय नकारात्मक है। इस प्रकार के प्रयास से मनुष्य को आत्म-सन्तोष न होकर केवल आत्मभर्त्सना ही होता है। वह कहीं-न-कहीं भूल कर देता है। इस भूल से उसे आत्म-भर्त्सना होती है। फिर नकारात्मक आत्म-नियंत्रण के यत्न से मनुष्य का अभिमान बढ़ता है। यह एक प्रकार का मानसिक रोग है जो अन्य रोगों को जन्म देता है। मन को भले काम में लगाने का परिणाम आत्म-सन्तोष है और आत्म-सन्तोष मनुष्य के मन को नई शक्ति प्रदान करता है। अपनी ही सफलता को देखकर मनुष्य आगे भी काम करने का उत्साह मनमें लाता है। फिर वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता जाता है। उसकी सफलता जैसे-जैसे बढती है-उसका आत्म-विश्वास भी वैसा वैसा बढता है और इसके साथ साथ उसकी इच्छाशक्ति भी दृढ होती जाती है। अतएव केवल मन और इन्द्रिय-निग्रह की अपेक्षा इन्हें कुछ भले काम के करने में लगाना इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाने का अच्छा साधन है।

बाध्य चिन्तन की चिकित्सा

सभी प्रकार के मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति अनिवार्यतः निर्बल हो जाती है। वह अपने ध्यान को किसी विशेष दिशा की ओर जाने से रोकना चाहता है, परन्तु उसका ध्यान उसी बात पर केन्द्रित हो जाता है, जिससे वह अपने मन को रोकता है अर्थात् जिसका चिन्तन वह अपने लिये कल्याणप्रद नहीं समझता। कितने ही लोगों का ध्यान बार-बार गन्दी वस्तुओं पर जाता है, कितने ही लोगों का ध्यान स्त्रियों की छाती अथवा उनके गुप्ताङ्गों की ओर जाता है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का विचार किसी भी व्यक्ति को देखते ही तत्काल उसकी शौचक्रिया पर जाता था। लेखक के एक मित्र का ध्यान किसी भी व्यक्ति को देखते ही उसके निम्न भागों पर जाता है। वे इस प्रकार के चिन्तन से बहुत परेशान हैं। जितना ही वह अपने ध्यान को सामने के व्यक्ति से अलग करने की चेष्टा करते हैं, उनका ध्यान और भी उसी ओर जाता है। उनके लिये अपनी दृष्टि को व्यक्ति के निम्न भागों से हटाना कठिन हो जाता है। स्त्रियों को देखते ही उनका ध्यान तुरत उनकी छाती अथवा गुप्त अंगों पर जम जाता है। इस कारण उनकी दृष्टि भी उसी ओर जाती है। चाहे कितना ही वह अपने आप से लड़े उनके मन से गुप्त-अङ्गों का विचार नहीं जाता। अनायास ही उनके ध्यान में व्यक्ति के गुप्तांगों का आना जैसे अनिवार्य हो गया हो। वह लाख प्रयत्न करने पर भी इससे मुक्त नहीं हो सकते। निरन्तर अन्तर्द्वन्द्वों का क्रम उनके अन्दर चलता रहता है। परिणाम स्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनका रक्तचाप बढ़ जाता है। उन्होंने हाल ही के पत्र में अपनी कथा निम्नलिखित शब्दों में कही है।

"मैं अपना मन किसी वस्तु से हटाने का जितना ही प्रयत्न करता हूँ, वह उतना ही अधिक उस वस्तु की ओर खिंचता चला जाता है। खिंचाव सिर की नसों में होने के कारण दर्द होने लगता है। मैं उधर से सिर घुमा लेता हूँ, नेत्र हटा लेता हूँ, लेकिन मेरे नेत्र का कोई भाग बलात् उधर ही खिंचा रहता है। यहाँ तक कि मस्तिष्क दुखने लगता है और बड़ी थकावट का अनुभव होने लगता है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि मैं रेल में बैठ कर सफर कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि स्वभावतः लोगों के कटिप्रदेश पर पड़ जाती है। मैं एक तरफ से हटाता हूँ तो दृष्टि दूसरे व्यक्ति का कटिस्थान ले लेती है। मैं घबरा कर अखबार से दृष्टि को छिपाकर पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। मै समाचार पढ़ता ही रहता हूँ, परन्तु दृष्टि उसी तरफ खिंची रहती है। यदि अखबार के किसी कोने से दृष्टि दूसरे व्यक्ति के

किसी भाग पर पड़ जाती है तो दृष्टि उसी तरफ खिंच जाती है और बड़ी बेचैनी होती है। उससे घबरा कर खिड़की से बाहर सिर निकाल कर देखने लग जाता हूँ, परन्तु दृष्टि पास के बैठे हुए व्यक्ति की तरफ खिंची रहती है। दृष्टि के पूर्णतः बन्द कर लेने पर खिचाव वैसा ही बना रहता है; विवश होकर दृष्टि पुनः खोलनी पड़ती है, किसी क्रिया से मुक्ति नहीं मिलती।

उक्त मानसिक द्वन्द्व का परिणाम यह हुआ है कि इनका रक्तभार लगभग ४० अंश बढ़ा हुआ है। अपनी स्मृति के बारे में वे लिखते हैं 'मेरी स्मृति आश्चर्यजनक रूप से व्यय हो गई है यदि मैं किसी को उधार या पेशगी रुपये दे देता हूँ अथवा किसी के हिसाब का फैसला करता हूँ तो प्रात काल की बात को सायंकाल तक भूल जाना साधारण सी बात है।'

उक्त मित्र की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। वह बीस वर्ष से संन्यासी हो गये हैं और पहाड़ों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वह बड़े अध्ययनशील और परोपकारी व्यक्ति हैं। पर समाज में आने में आपको बड़ी कठिनाई होती है। उनमें सदा आत्महीनता और संकोच का भाव बना रहता है। जब कोई व्यक्ति उनकी प्रशंसा करने लगता है, संकोच का भाव और बढ़ जाता है। इस कारण वे समाज से सदा अलग रहने की चेष्टा करते रहते हैं।

उक्त मित्र से पिछले दो वर्षों से पत्रव्यवहार हो रहा है। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को जानने पर मालूम हुआ कि वे अपनी किशोरावस्था में कामुक थे। परन्तु नैतिक धारणा भी उनमें प्रबल थी। उनका विवाह अठारह वर्ष की अवस्था में हुआ। वे अपनी स्त्री से अधिक न मिल पाये। इसी बीच एक नैतिक भूल उनसे हो गई। उन्होंने किसी ऐसी स्त्री के साथ काम-क्रीड़ा की, जिसे वे बहिन के रूप में मानते थे। इसका बड़ा धक्का उनके मन पर लगा। कुछ दिन तक वे अपने आपको इस अपराध के लिये कोसते रहे। फिर इस घटना के थोड़े ही दिन बाद वे घर द्वार छोड़कर साधु बन गये। इस प्रकार उनकी प्रेमभावना का एकाएक दमन हो गया। उनकी कामशक्ति एकबारगी ही अवरुद्ध हो गयी। उनके विकास का अब कोई मार्ग ही नहीं है। उनका ऊपरी मन तो तपस्वी है किन्तु भीतरी मन भोगी है। उनका आन्तरिक मन संसार के प्रेम का इच्छुक है। वह झूठी बड़ाई नहीं चाहता। इसलिए जनसमूहमें आते ही उन्हें घबराहट होती है। वे अपनी मानसिक अवस्था को भली प्रकार पहचान गये हैं। कई दिनों के विचार विमर्श के बाद उन्हें रोग का मूलकारण बुद्धिगम्य हुआ है। उनके रोग का कारण कामवासना का दमन बताया गया था, जो अभी भी वर्तमान है। उन्हें यह भी बताया गया था कि उनकी आवेगात्मक काम व्यवहार सम्बन्धी [illegible]

घटना ही इस दमन के मूल में है। परन्तु इस बात को हृदय स्वीकार नहीं करता था। किन्तु कल आये हुए पत्र में दूसरी ही दशा प्रदर्शित होती है। वे अपने हिमालय स्थित स्थान से लिखते हैं।

'नन्दादेवी का पर्वत लगभग ६००० फुट की ऊँचाई पर है। वहाँ एक एकांत-वास के समय अकस्मात् मुझे आप द्वारा निर्दिष्ट कारण की समुचितता का भान होने लगा। मेरे गृह-त्याग के कुछ ही दिनों पूर्व जो कामसम्बन्धी घटना हुई थी, उस पर आद्योपान्त विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि संभवतः उक्त घटना ही मेरे रोग का मूल कारण है। अज्ञात दमन ही रोग का कारण होता है। इसलिये उनके कारण पर मुझे अब तक सदेह ही था। परन्तु जब घटनाओं की शृंखला एक दूसरे से जोड़ता गया, तब मुझे उस घटना के कारण पर अब विश्वास होने लगा है। उस घटना का आद्योपान्त सविस्तार वर्णन मैं आपके पास लिख कर भेजूँगा।'

यहाँ अपने रोग के मूल कारण को इस मित्र ने पहचान लिया है। परन्तु मानसिक रोगों का अन्त एकाएक नहीं होता। रोग स्वयं शिक्षक है। रोग से मनुष्य को आत्म-ज्ञान होता है। वह जिस उद्देश्य को लेकर आता है जबतक उसकी पूर्ति नहीं होती वह समूल नहीं जाता। कृत्रिम चिकित्साओं से उसका दमन अथवा रूपान्तरण मात्र होता है। उक्त मित्र की मानसिक दशा दिन-प्रति दिन सुधरती गई है। उसके जीवन से निराशा का भाव जाता रहा। वह अपने सिर-दर्द के बारे में अब नहीं लिखता। उसके विचार पहले शृंखला बद्ध नहीं थे। वह एक साथ बैठकर लम्बे पत्र नहीं लिख पाता था। परन्तु पिछले कुछ दिनों में लेखक ने उससे तीस-तीस पृष्ठों तक के पत्र पाये; जिनमें गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक विषयों पर गवेषणापूर्ण विचार किया गया है। उनकी स्मृति, तर्क-शक्ति अद्वितीय है। स्मृति के ह्रास की जो शिकायत है, वह प्रायः विपरीत निर्देश के कारण ही उत्पन्न हुई है।

ये मित्र यदि गृहस्थ होते या उनका फिर गृहस्थी में आना संभव होता तो उनका मानसिक रोग कभी का दूर हो गया होता। उनका हृदय प्रेम का भूखा है। वह प्रेमिका का चुम्बन, आलिंगन और उससे प्रेमपूर्ण वार्तालाप चाहता है। संन्यास जीवन में यह सम्भव नहीं। जब कामवासना की आगे की ओर अर्थात् स्त्री, सन्तान आदि की ओर प्रगति रुक जाती है तो वह प्रतिगामिनी बन जाती है, अर्थात् ऐसी अवस्था में मनुष्य का ध्यान बार-बार कामवासना की तृप्ति के निम्न कोटि के साधनों पर केन्द्रित हो जाता है और जब उससे उसे हटाने की चेष्टा की जाती है तो मानसिक खिंचाव बढ़ जाता है। बुद्धिमानी इसी बात

में है कि इस प्रकार के खिंचाव की अवहेलना न कर उसके अर्थ को समझने की चेष्टा की जाय और तत्सम्बन्धी योग्य उपचार किये जायँ।

अवरुद्ध कामवासना का शोध (Sublimation) बाल शिक्षा, संगीत, कला, कविता आदि कार्यों से होता है। शुकदेव, नारद, व्यास आदि ऋषियों ने इसी प्रकार अपनी कामवासना का शोध किया परंतु पहले से यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति को कौन सा उपाय ठीक बैठेगा। उक्त मित्र में कविता बनाने की प्रतिभा है। यदि वे इसी के द्वारा राष्ट्र की अथवा मानव समाज की सेवा करने लगें तो वे अपना और संसार का भारी कल्याण करने में समर्थ हों। वे जैसे-जैसे अपने आपको समझ रहे हैं इस ओर प्रयत्नशील भी हैं।

बाध्य चिन्तन का दूसरा उदाहरण एक बड़े सदाचारी गृहस्थ व्यक्ति का है। उन्हें अपने समवयस्क मित्र का सदा चिन्तन होते रहता है। उनकी समझ में मित्र उनकी इतनी परवाह नहीं करता जितनी की वह अपेक्षा करते हैं। परन्तु इन्हें तो उसकी चिन्ता किये बगैर चैन नहीं मिलती। वे स्वयं बीसवर्ष के विवाहित व्यक्ति हैं। व्यापार मे लगे रहते हैं, पर ईश्वर-ध्यान के समान उन्हें सदा अपने मित्र का ही ध्यान रहता है। उनका मित्र भी एक गृहस्थ है। उसे अपने काम रहते हैं, अतएव उसे अपने उक्त मित्र की भावनाओं का आदर करने का समय ही नहीं मिलता। इससे पहले मानसिक धक्का अवश्य लगता है फिर भी वह अपने मन को उस मित्र से अलग करने में असमर्थ है। उसे सन्देह होने लगा, कि सम्भवत कोई मानसिक रोग हो गया है। अपनी मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए उक्त सज्जन ने अपने पत्र में लेखक को ऐसा लिखा था।

पत्र के उत्तर में उक्त सज्जन को लिखा गया कि वह अपने मित्र के विचार को भला माने। उनसे मित्र के बारे में और भी अधिक चिन्तन करने को कहा गया। चाहे मित्र उनके प्रेम की परवाह करे अथवा नहीं, उन्हें तो उनके प्रति सदा सद्भावना लाना ही चाहिये, और उन्हें जिस प्रकार हो प्रसन्न करने की चेष्टा करना चाहिये। निःस्वार्थ प्रेम में बदला पाने का भाव नहीं रहता। ऐसा ही प्रेम सच्चा प्रेम कहा जा सकता है। उन्हें कहा गया कि वे इस प्रकार के प्रेम के लिये आत्म-भर्त्सना न कर अपने आपको धन्य ही मानें। साथ ही इसी प्रकार के प्रेम का प्रसार और अधिक लोगों तक करें।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण बताते हुए लिखा गया कि सम्भवतः उन्हें अपनी माँ का पूरा लाड़ प्यार नहीं मिला और उनके यहाँ बहिन का अभाव होगा, और अपनी पत्नी के साथ भी उनका पूरा मनोयोग न होगा। इससे उनकी प्रेम की भूख तृप्त नहीं हो पायी। वह अतृप्त ही रही। उसका

विकास नहीं हुआ। जहाँ विषमलिंगी (Hetero Sexual) प्रेम का अभाव रहता है, समलिंगी (Homo Sexual) प्रेम प्रबल हो जाता है। यह मानसिक संतुलन को बिगाड़ने नहीं देता। इसके अभाव में भी व्यक्तियों का मानसिक विकास रुक जाता है। इन्हें बताया गया कि यदि वे जान बूझकर अपने मित्र को खूब प्यार करें और जब उनका विचार मन से चला भी जाता हो तब भी उसे वापस लावें तो उनके बाध्य चिन्तन का अन्त हो जायगा। जिस भावना से हम लड़ते हैं वह बार-बार मन में आती है और जिसे हम मन में आने की छूट दे देते हैं अथवा जान बूझकर मन में ले आते हैं वह मन से निकल जाती है। अतएव कुछ दिनों तक मित्र के विचार को ही सदा मन में लाते रहने का अभ्यास करने की सलाह दी गई।

इसके अतिरिक्त सबके प्रति मैत्री भावना और सोते समय भद्रभावों का अभ्यास करने को कहा गया। जो कुछ होता है सब भले के लिये ही होता है इस प्रकार का अभ्यास शिव भावना का अभ्यास है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की बीमारी भी उसका मित्र बन जाती है। इन्हें अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को लिखने का भी आदेश दिया गया।

लेखक के आदेशानुसार उक्त सज्जन ने अपने विचारों को बनाने की चेष्टा की। उसने अपनी पुरानी भावना को अपना दोष न मानकर गुण ही मानना प्रारम्भ कर दिया। उसने शिव भावना का अभ्यास किया। इसके परिणामस्वरूप उनका मन शान्त अवस्था में हो गया। मनका अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होने पर उनकी मानसिक प्रसन्नता बढ़ गई और सभी प्रकार के खिचाव का अन्त हो गया।

आत्म-निर्देश और आरोग्य

हमें हर समय वातावरण से आरोग्य के अथवा रोग के निर्देश, बलवान होने के अथवा दुर्बलता के निर्देश मिलते रहते हैं। इन निर्देशों से हम सदा प्रभावित होते हैं। आरोग्य और बल के निर्देश हमें नीरोग्य और बलवान बनाते हैं। रोग और दुर्बलता के निर्देश हमें रोगी और दुर्बल बना देते है। जब मनुष्य के आन्तरिक मन में अनेक प्रकार के द्वन्द्व चलते रहते हैं तब उसका मन बाहरी बुरे निर्देशों से शीघ्रता से प्रभावित हो जाता है। दुर्बल मन के व्यक्ति को सभी ओर अशुभ ही अशुभ दिखाई देता है। जब ऐसा व्यक्ति कोई नया काम करने का निश्चय करता है, तो उसे उसी समय अनेक प्रकार के अशगुन हो जाते हैं। इनके कारण उसका मन संदेह से भर जाता है और उसे अपने काम में सफलता प्राप्त करना कठिन हो जाता है। जब मनुष्य का मन दुर्बल होता है तो उसे प्रत्येक पक्ष में, परिस्थिति में, व्यक्ति में बुराई ही बुराई दिखाई देती है।

अपने जीवन का संचालन भली प्रकार से करने के लिये और अपने स्वास्थ्य को अच्छा बनाने के लिये मानसिक दृढ़ता का होना नितात आवश्यक है। यह मानसिक दृढ़ता आत्म-निर्देश के अभ्यास से प्राप्त होती है। आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक आत्म-निर्देश की उपयोगिता में विश्वास नहीं करते। कितने ही लोगों का कथन है कि आत्म-निर्देश वास्तव में कोई वस्तु नहीं, सभी आत्म-निर्देश पर-निर्देश होते हैं। इमीलकूये को बताई गई आत्म-निर्देश चिकित्सा-विधि को वे पर-निर्देश चिकित्सा विधि ही मानते हैं। निर्देश से मनुष्य के वास्तविक रोग का दमन होता है उसका निवारण नहीं होता। इस विधि से आरोग्य प्राप्त व्यक्ति फिर से रोगी हो जाते हैं। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। डाक्टर विलियम ब्राउन के प्रयोगों से पता चलता है कि मनुष्य के अनेक प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग आत्म-निर्देश से सब समय के लिये समाप्त हो जाते हैं। दूसरे लोगों के निर्देश भी हमें सब समय हानि नहीं करते और न सभी निर्देश मनोभावनाओं का दमन करते हैं। कभी-कभी मनुष्य वीर धर्मात्मा पुरुष के आचरण अथवा विचार से प्रभावित होकर स्वयं वीर और धर्मात्मा बन जाता है। किसी महात्मा का स्नेहपूर्वक दिया गया निर्देश मनुष्य के व्यक्तित्व को ही बदल देता है। यदि वह रोगी है तो उसके रोग को सरलता से समाप्त कर देता है।

डाक्टर विलियम ब्राउन के कथनानुसार व्यक्ति को भले आत्म-निर्देश की इसलिये ही आवश्यकता होती है जिससे उसे वातावरण में फैले हुए दुर्निर्देश प्रभावित न कर पावें। फिर सनिर्देश के द्वारा व्यक्ति इच्छा-शक्ति को बलवान

भी बना लेता है। वह अपने अन्तर्मन में चलने वाले अनेक प्रकार के द्वन्द्व को समाप्त कर सकता है। जहाँ व्यक्ति की इच्छा-शक्ति हार खा जाती है, वहाँ उसका आत्म-निर्देश काम करता है। जिन जटिल प्रवृत्तियों का नियंत्रण इच्छा शक्ति के बल द्वारा व्यक्ति प्राप्त करने में असमर्थ रहता है उनका नियंत्रण आत्म-निर्देश के द्वारा हो जाता है। अनेक प्रकार के प्रयोगों से देखा गया है कि यदि व्यक्ति अपने आपको ठीक तरह से आत्म-निर्देश दे सके तो उसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य और आचरण पर अवश्य ही भला पड़ता है। इसमे कभी-कभी सब समय के लिये व्यक्ति का जटिल रोग समाप्त हो जाता है। आत्म-निर्देश से दमा, क्षय, बहुत दिन की सिर की पीड़ा आदि शारीरिक रोग अच्छे हो जाते हैं। जब आत्म-निर्देश सफल नहीं होता तो उसके देने की विधि में कोई भूल होती है।

आत्म-निर्देश शरीर और मन की शैथिलीकरण की अवस्था में ही मनुष्य अपने आपको दे सकता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति भी किसी रोगी को भला निर्देश शरीर और मन की शैथिलीकरण की अवस्था में देता है तभी वह उसके मन और शरीर पर भला प्रभाव दिखाता है। परन्तु शरीर और मन की शैथिलीकरण की अवस्था आ जाना सरल नहीं है। साधारणत प्रत्येक मानसिक रोगी के मन में खिंचाव बना रहता है। वह जितना ही अपने मन को शिथिल बनाने का प्रयत्न करता है, वह अपने भीतर उतना ही अधिक खिंचाव का अनुभव करता है। अनेक प्रकार के विचार मन की शैथिलीकरण की अवस्था मे चेतना के स्तर पर आने का यत्न करते हैं और जब व्यक्ति इनको रोकने की चेष्टा करता है तो उसके मन का खिंचाव बढ़ जाता है। वास्तव में दमित विचारों के बाहर आने का यत्न और उनके दमन का कार्य व्यक्ति के अनजाने उसकी चेतना के नीचे होता है। व्यक्ति इस खिंचाव के प्रभाव मात्र को मानसिक बेचैनी के रूप में अनुभव करता है।

जब व्यक्ति मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास प्रारंभ करता है तो अनेक प्रकार के अप्रिय विचार उसकी चेतना की सतह पर आते हैं। जब वह इन विचारों को इस प्रकार चेतना के सामने आने की छूट दे देता है तो उमे धीरे-धीरे नींद आ जाती है। प्रतिदिन इस प्रकार का मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास व्यक्ति के दमित भावों का रेचन कर डालता है। फिर जो भी सन्निर्देश व्यक्ति अपने आपको देता है वह उसके चेतन मन से उसके अचेतन मन में चला जाता है। यदि यह निर्देश आरोग्य प्राप्त का हुआ तो उसे आरोग्य लाभ हो जाता है और यदि यह निर्देश चरित्र-सुधार का अथवा किसी जटिल आदत से मुक्त का हुआ तो वह व्यक्ति अपने आपमें अनायास आवश्यक सुधार होते हुये पाता है।

आत्म-निर्देश को सफल बनाने के लिये मानसिक खिंचाव को हलका करना नितांत आवश्यक है।

आत्म-निर्देश देने के पूर्व जो मानसिक शैथिलीकरण द्वारा अपने दमित भावों को चेतना के स्तर पर आने की छूट दे दी जाती है वह एक प्रकार का अपने आप द्वारा मनोविश्लेषण है। इस प्रकार के मनोविश्लेषण को डाक्टर हेडफील्ड ने रिडक्टिव-एनालेसिस कहा है। इस प्रकार के मनोविश्लेषण में व्यक्ति अपने अन्तर्मन की जानकारी करता है और वह अपनी भावनाओं को जानकर उनको वश में लाने की चेष्टा करता है। रिडक्टिव-एनालेसिस और साइको-एनालेसिस में भेद इतना ही है कि प्रथम प्रकार की क्रिया स्वयं रोगी अपने आप भी कर सकता है, वह दूसरे व्यक्ति की सहायता से भी होती है और साइको-एनालेसिस में दूसरे व्यक्ति की सहायता नितांत आवश्यक है।

आत्म-निर्देश के द्वारा मनुष्य अपनी दमित भावना को चेतना के स्तर पर ले आ सकता है और इसी के द्वारा वह इस दमित भावना को सदुपयोगी भी बना सकता है। आत्म-निर्देश से मनुष्य की मानसिक ग्रन्थियाँ बिना चेतन के स्तर पर आये सुलझ सकती हैं। आत्म-निर्देश से न केवल मानसिक रोग वरन् सामान्य शारीरिक रोग भी शीघ्रता से अच्छे हो सकते हैं। इसकी सहायता से व्यक्ति शरीर की असह्य पीड़ा को सरलता से सह ले सकता है।

आत्म निर्देश की उपयोगिता रोगी व्यक्ति के सुधार की अपेक्षा स्वस्थ व्यक्ति के विकास में कहीं अधिक है। आत्म-निर्देश के सफल बनाने के लिये इच्छा और अभिमान का त्याग करना आवश्यक होता है। बिना इनके त्याग के मानसिक खिंचाव कम नहीं होता और मानसिक खिंचाव की अवस्था में आत्म-निर्देश उलटा काम कर डालता है। इच्छा और अभिमान का त्याग रोगी व्यक्ति की अपेक्षा स्वस्थ व्यक्ति कहीं अधिक सफलता से कर सकता है। अतएव स्वस्थ व्यक्ति को आत्म-निर्देश का अभ्यास करना श्रेयस्कर है। स्वस्थ व्यक्ति के सहारे रोगी व्यक्ति भी आत्म-निर्देश के अभ्यास से रोग मुक्त हो सकता है।

आत्म-निर्देश को सफल बनाने का एक उत्तम उपाय किसी दूसरे व्यक्ति के लिये शुभ चिन्तन करने लगना है। दूसरे व्यक्ति को भेजे गये भले विचार अपने लिये शुभ आत्म-निर्देश बन जाते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है वह अपने आप ही उसके बिना जाने ऊँचा उठ जाता है। उसका लाभ उतना ही अधिक होता है जितना वह अपने आपको भुला देने की चेष्टा करता है किसी रोगी की पूरे मन से सेवा करना अपने आपको शुभ आत्म-निर्देश आरोग्य देना है।

कल्याण की भावना

व्यक्ति का आन्तरिक मन जिस प्रकार की भावना को पकड़ लेता है, उसी के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन की सभी घटनाओं का अर्थ लगाने लगता है। किसी प्रकार की घटनाओं के दो पक्ष होते हैं एक आशावादी और दूसरा निराशावादी। रोगी व्यक्ति निराशावादी पक्ष को पकड़ता है। मन की दुर्बल अवस्था में व्यक्ति की दृष्टि घटना के निराशावादी पक्ष पर होती है। जब निराशावादी भावनायें मनमें जाग्रत् होने लगती है तो व्यक्ति कोई भी रचनात्मक कार्य करने में समर्थ नहीं होता। जब व्यक्ति की भावनाये आशावादी बन जाती हैं तो वह सभी काम को मन से करता है और उसे सफलता मिलती है।

सभी घटनाओं को कल्याणकर देखना उन्हें अपने अनुकूल बनाना है। यह उनसे प्रति मैत्री भावना का अभ्यास है। यदि कोई व्यक्ति हमारा शत्रु न हो और हम उसे अपना शत्रु मानलें तो वह कुछ समय बाद शत्रु जैसा हो व्यवहार करने लगेगा। हमारे विचार उसके मस्तिष्क को प्रभावित करके उसे हमारे प्रतिकूल कर देंगे। यही बात घटनाओंकी भी है। घटनायें अनुकूल अथवा प्रतिकूल हमारे उनके प्रति रूख से बन जाती हैं।

सभी लाभ के प्रति तटस्थ भाव रखने से ही व्यक्ति प्रतिकूल घटनाओं को अनुकूल बना लेता है। मानसिक दुर्बलता इच्छाओं की प्रबलता का परिणाम है। जिस व्यक्ति की व्यक्तिगत लाभ की अभिलाषा जितनी प्रबल होती है उसके मनमे सन्देह भी उतने ही अधिक उठा करते हैं। ऐसे व्यक्ति के मनमें निराशावादी विचार भी उठते हैं। ये विचार उसे व्यक्तिगत उद्देश्य से किये गये उद्योगों से हताश करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही व्यक्तिगत स्वार्थ के बारे में सोचता है वह उतनाही अधिक निराशावादी बन जाता है। इच्छा का स्तर जितना ही ऊँचा होता है आशावादिता भी उतनी ही अधिक रहती है।

हम अपनी कमजोरियों और बुराइयों को अपने बाहर आरोपित कर देते हैं जो व्यक्ति सफलता के लिये सदा उद्विग्न मन रहता है वह उसकी पूरी कीमत नहीं चुकाना चाहता। पूरी कीमत चुकाने के पश्चात् जो व्यक्ति सफलता से उदासीन रहता है वही सफल बनता है। चाहना ही व्यक्ति के मन को कमजोर बनाती है। जिस व्यक्ति की चाह जितनी प्रबल होती है उसका मन उतना ही कमजोर होता है। मन भय के विचारों से आशा के विचारों की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है।

सभी प्रकार के मानसिक त्याग मनको बलवान बनाने के सर्वोतम साधन है।

यही आशावादिता का भी सुगम उपाय है। मानसिक त्याग बाहरी त्याग से भिन्न वस्तु है, बाहरी त्याग से व्यक्ति केवल इन्द्रियों से उनका सम्पर्क नही करता अथवा चेतन मन से उनका चिन्तन नही करता, परन्तु अचेतन मन उनकी इच्छा करते रहता है। यह एक प्रकार का ढोंग है। वास्तविक त्याग इच्छा का त्याग है। वस्तु की प्राप्ति के विषय मे लापरवाह होते हुए उसका आगमन स्वीकार करना व्यक्ति के मन को बलवान बनाता है। अपने कर्तव्य करने से व्यक्ति का मन बलवान होता है। कर्तव्य वह कार्य है जिसे व्यक्ति सब की भलाई के लिये करता है। कर्तव्य में इच्छा का ध्यान नहीं रहता केवल रचना का ही ध्यान रहता है।

व्यक्ति अपने मन को कमजोर कैसे कर लेता है? प्रत्येक प्रकार का काम जिसे व्यक्ति छिपकर करता है उसके मन को कमजोर बनाता है। छिपकर किया गया कार्य बाहरी जनता से तो छिप जाता है परन्तु अपने आप से नहीं छिपता। अपनी ही नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल काम करने से मन निर्बल हो जाता है। उसके अनुकूल काम करने से वह प्रबल होता है। मन को बलवान बनाने के लिये व्यक्ति को अपनी नैतिक भावना को अर्थात् अपने नैतिक माप-दण्ड को नीचा कर लेना चाहिये अथवा अपने आचरण और विचार को ऊँचे स्तर पर लाना चाहिये। साधारणत व्यक्ति अपने आदर्श को ऊँचा ही बनाये रखता है। इससे उसकी समाज में प्रतिष्ठा रहती है। फिर वह इस प्रतिष्ठा की बड़ी कीमत चुकाता है। वह अपने ऊँचे माप-दण्ड के अनुसार आचरण नहीं कर पाता। फिर वह अपने आपको कोसकर मन को दुर्बल बना लेता है। ऐसा व्यक्ति अपने भावों और विचारों पर नियंत्रण रखने मे असमर्थ रहता है। वह अनेक प्रकार के भयानक कल्पनाओं को मन में लाता है और अनेक प्रकार की दुर्घटनाओं को सिर पर बुला लेता है।

वर्तमान काल में जितना निर्भीक पाकिस्तान है, भारत नहीं है। भारतवर्ष में विभाजन के बाद वैसे ही घटनाये हुई थी जैसी पाकिस्तान में हुई। भारत की घटनायें पाकिस्तान की घटनाओं की प्रतिक्रियाये थीं। पाकिस्तान को इन घटनाओं के लिये कोई शर्म नहीं है, परन्तु भारत का मस्तिष्क इनके कारण नीचा हुआ। इन घटनाओं के कारण महात्मा गान्धी को इतनी ग्लानि हुई कि वे अधिक दिन जीना भी नहीं चाहते थे। इन घटनाओं से कांग्रेस के प्रत्येक नेता का मस्तिष्क नीचा होता है। इसका कारण यहाँ के लोगों की आदर्शवादिता ही है। हम अपनी नैतिकता को संसार में सबसे ऊँचा बताते हैं, जब अपने ही आप दण्ड में हम खोटे निकलते हैं तो फिर ससार को हम कैसे मुँह दिखा सकते हैं? अब संसार के लोग कहने लगे हैं कि भारतवर्ष का आदर्श जितना ही ऊँचा है

उसका आचरण उतना ही नीचा है। वास्तव में अत्युच्च आदर्श अपने निकम्मेपन को दृष्टि ओझल करने का प्रयास है। यह एक प्रकार का प्रमाद है। इससे व्यक्ति का मन दुर्बल होता है और व्यक्ति तथा राष्ट्र पर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं।

जो व्यक्ति अपने मन को बलवान बनाना चाहता है उसे अपने आपको उच्च आदर्श का व्यक्ति प्रसिद्ध ही न करना चाहिये। उसे धीरे-धीरे ऊँचा उठने की चेष्टा करनी चाहिये। दूसरों को शिक्षा देने की और सम्मानित होने की मनोवृत्ति व्यक्ति के मन को दुर्बल बनाती है। अन्ततोगत्वा व्यक्ति को अपनी प्रत्येक प्रकार की प्राप्ति के लिये कीमत चुकाना ही पड़ता है। सन्त साधु नाम से पुकारे जाने की कीमत आन्तरिक सन्ताप के रूप में चुकानी पड़ती है।

व्यक्ति का दृष्टि कोण उसकी आध्यात्मिक सम्पति का परिणाम है। जिस प्रकार कंगाल व्यक्ति बड़ी-बड़ी योजनायें नहीं बना सकता, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से दीवालिया व्यक्ति अपने भविष्य के विषय में भली कल्पनायें नहीं कर पाता। व्यक्ति अपना आध्यात्मिक धन दूसरों की सेवा करके और अपनी इच्छाओं का त्याग करके बढ़ाता है। हम जितना ही अधिक दूसरों के लिये त्याग करते हैं उतना ही हम मन से बली हो जाते हैं। किसी भी प्रकार दूसरे व्यक्ति से लाभ उठाने की मनोवृत्ति व्यक्ति के मन को दुर्बल बनाती है।

काम और लोभ मन को दुर्बल बनाते हैं। जिन लोगों में इनकी अधिक प्रबलता रहती है वे आशावादी नहीं रह पाते। दुर्बल मन को निराशा ही सदा सताती रहती है। इच्छाओं का त्याग आशावादिता का ठोस आधार है। जो लाभ जितना ही महान् है उसका त्याग भी उतना ही अधिक करना होता है।

मौलिक सेवा

संसार के महान जर्मन तत्ववेत्ता कान्ट का कथन है कि सद्भावना ही एक मात्र वह वस्तु है जो निरुपाधि रूप में भली है सद्भावना का अभ्यास न केवल उस व्यक्ति के लिये लाभप्रद होता है, जिसके लिये वह प्रगट की जाती है वरन् उससे भी अधिक उस व्यक्ति के लिये लाभप्रद होता है जो सद्भावना का अभ्यास करता है। जहाँ तक दूसरों की सेवा की बात है, सभी लोगों की सच्ची सेवा उस विचार में रहती है जो सेवा के विचार का प्रेरक है। यदि सेवा का प्रेरक विचार स्नेह का हुआ तो सेवा से अन्त में लाभ होता है और यदि वह प्रेरक विचार कोई लौकिक लाभ अथवा भय हुआ तो इससे सेवा प्राप्त करने वाले का स्थायी लाभ नहीं होता। लौकिक लाभ से सेवा करने वाला व्यक्ति अपने ही लाभ का ध्यान रखता है। यदि किसी दबाव के कारण किसी व्यक्ति की हमे सेवा करनी पड़ी तो हम ऊपर से उस व्यक्ति की सेवा करते हैं परन्तु भीतर से उसको कोसते हैं। इससे जो कुछ लाभ सेवा किये जाने वाले व्यक्ति को बाह्य रूप से होती है उससे कहीं अधिक हानि उनकी आन्तरिक रूप से हो जाती है।

बिना स्नेह के पढ़ाया गया पाठ विद्यार्थी को देर तक याद नहीं रहता। स्नेह से पढ़ाया गया थोड़ा भी पाठ शिष्य को अधिक लाभ प्रद होता है अपेक्षा उस पाठ के जो बिना स्नेह के पढाया जाता है। आज संसार में हृदयहीनता बढ़ती जाती है। इसकी जड़ में यदि हम देखे तो व्यवसायिक हृदयहीन शिक्षा पावेंगे। लेखक का एक शिष्य अपने एक शिक्षक के व्यंग वचनों से परेशान रहता था। यह शिष्य कालेज का विद्यार्थी है। उसके इस शिक्षक के हाथ में उसका पास और फेल होना था। शिक्षक इस विद्यार्थी को कक्षा के सभी विद्यार्थी के सामने किसी प्रकार की भूल के लिये मजाक उड़ाता था। शिक्षक इस बात की परवाह नहीं करता था कि उसकी इस चेष्टा का कैसा प्रभाव उस विद्यार्थी के मन पर पड़ता होगा। विद्यार्थी के मन में उसके प्रति घृणा का भाव हो गया। अब विद्यार्थी इस अध्यापक का पढ़ाया विषय भूल जाने लगा। उसे शिक्षक के सामने प्रैक्टिकल काम करना पड़ता था। वह काम की कितनी ही तैयारी क्यों न करे कुछ न कुछ ऐसी गलती कर देता था कि उसे शिक्षक की डाँट और व्यंग वचन सुनने पड़ते। उसे सदा भय बना रहता था कि कहीं यह शिक्षक उसे फेल न कर दे। शिक्षक के व्यवहार से विद्यार्थी के आत्मविश्वास का ही लोप होता जा रहा था।

इस विद्यार्थी को शिक्षक के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा गया। विद्यार्थी ने कहा कि मुझे उससे मैत्रीभाव रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

उसका कहना था कि यदि मेरा वश चले तो मैं उसे कालेज से ही निकलवा दूँ और मेरी हार्दिक इच्छा उसे सदा दुःखी देखने की है। वह दुखी रहता ही है। उसकी गृहस्थी की झंझट इतनी बढ़ी है कि वह कभी चैन नहीं पाता। अपनी स्त्री से भी उसकी नहीं पटती। उसके लड़के भी निकम्मे हैं।

जिस शिक्षा प्रणाली में शिक्षक का सम्बन्ध उपर्युक्त प्रकार का हो जाता है उसके द्वारा सहृदय नागरिक कैसे तैयार हो सकते हैं? यह बात सही है कि सभी शिक्षक उपर्युक्त शिक्षक जैसे बेसमझ नहीं होते। यहाँ शिक्षक और शिष्य दोनों असाधारण व्यक्ति थे। शिष्य तो मानसिक रोगी था ही और उसके मानसिक रोग के उपचारार्थ हमारे पास आया था, परन्तु शिक्षक भी मानसिक रोगी था। तभी वह अपने आसपास के लोगों को अपना अशुभचिन्तक अथवा शत्रु बना लेता था। शिष्यों की ही घृणा के कारण उसकी अन्तरात्मा किसी न किसी कारणवश दुःखी रहती थी। यह शिक्षा प्रणाली गुरु और शिष्य के बीच सद्भावना का प्रसार नहीं करती है। रोगी को प्राप्त शिक्षक का पेशा गुरु शिष्य में सद्भावना की वृद्धि के उपयुक्त नहीं है। फिर जिस प्रकार का अभ्यास बालकों का अल्प आयु में हो जाता है वैसा ही अभ्यास बाद को रहता है। जो व्यक्ति अपने गुरु के प्रति सद्भाव नहीं दिखा पाते वे दूसरों के प्रति सद्भाव कैसे दिखा सकेंगे?

हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली में व्यक्ति की बौद्धिक शिक्षा पर्याप्त होती है। अब व्यवहार कुशलता अथवा हाथ के काम की कुशलता पर अथवा शारीरिक कार्यक्षमता पर जोर डाला जाने लगा है। परन्तु इससे शिक्षा का वह दोष नहीं जाता जिसके कारण विश्व में अशान्ति फैली हुई है। स्नेह के अभाव में व्यक्ति व्यक्तिवादी, स्वार्थी प्राणी बन गया है। जबतक राष्ट्र में हृदय की शिक्षा नहीं होती और सद्भावना का प्रसार नहीं होता देश में धन बढ़ जाना भी देश को हानिकारक होगा।

जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में सद्भावना का अभ्यास ही राष्ट्र की मौलिक सेवा है उसी प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में भी सद्भावना ही सच्ची चिकित्सा की शिला है। आधुनिक काल में किसी भी विख्यात डाक्टर की महानता उसकी फीस से आँकी जाती है। जिस डाक्टर की जितनी अधिक फीस है वह उतना ही महान समझा जाता है। महँगी दवाई का एक अपना ही मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। सस्ती दवाई को व्यर्थ माना जाता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति उन लोगों की बन गई जिनका मस्तिष्क आधुनिक घृणा और स्वार्थपरायणता के वातावरण से विकृत हो गया है। वास्तव में प्रेम और सेवा भाव से प्रेरित चिकित्सा ही स्थायी लाभ रोगी को देती है। मनुष्य के बहुत से शारीरिक और मानसिक रोग किसी

भले पुरुष की सद्भावना मात्र से अच्छे हो जाते हैं। सत्पुरुष के सम्पर्क में आते ही दूसरे लोग भी सत्पुरुष बन जाते हैं। इसी तरह उदार व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर रोगी व्यक्ति उदार बन जाता है। इस उदारता के मन में आने पर रोगी का रोग चला जाता है।

सत्पुरुष एक स्थान पर बैठा-बैठा सारे जगत को अपने सद्विचारों से प्रभावित कर सकता है। वास्तविक विचारों का प्रभाव जितना ज्ञात रूप से होता है उससे कहीं अधिक अज्ञात रूप से होता है। हम जो कुछ भी सफलता संसार में प्राप्त करते हैं वह सभी लोगों की सद्भावना का परिणाम होता है। यदि किसी व्यक्ति का विनाश उससे सम्बन्धित सभी लोग आन्तरिक मन से चाहते हैं तो उसका विनाश ही हो जाता है।

सामाजिक क्षेत्र में सद्भाव का प्रसार घर के विभिन्न लोगों मे स्नेह की वृद्धि से और विभिन्न जातियों और वर्गों में स्नेह की वृद्धि से होता है। अभिमान मनुष्य को मनुष्य से, पिता को पुत्र से, और स्त्री को पति से अलग रखता है। अभिमान स्नेह का विनाशक है। जब प्रेम की वृद्धि होती है तो अभिमान की समाप्ति होती है। भारतीय समाज एक छिन्न-भिन्न समाज है। यहाँ जितनी अधिक आदर्शवादिता है उतनी किसी देश में नहीं है, परन्तु व्यवहार में जितनी सद्भाव की कमी है उतनी और किसी समाज में नहीं है। फिर सद्भाव का प्रचार करनेवाले लोग ही सबसे अधिक घृणा और झूठ फैलाने में कारण बन गये हैं। इसका कारण यह है कि जहाँ इन लोगों में ऊपरी मन से सद्भाव था वे भीतरी मन से राजनैतिक थे। राजनैतिक-सद्भावना दुर्भावना को ही फैलाती है।

जिस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में प्रेम के प्रसार से समाज दृढ़ होता है, इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी समाज के विभिन्न अंगों मे सद्भाव रहने से राष्ट्र बली बनता है। यह सद्भाव अखबारी विचार की वस्तु नहीं हृदय-वस्तु अथवा अचेतन मन की वस्तु है। भारतवर्ष में विभिन्न सम्प्रदायों की एकता की बात बहुत दिन चलाई गई परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। कोई भी भारत का हितैषी देश के दो खंड नहीं देखना चाहता था, परन्तु उनकी इच्छा के प्रतिकूल भी भारत का विभाजन हुआ। इसका प्रधान कारण दोनों दलों में वास्तविक हृदय की एकता का अभाव ही था। जिस प्रकार प्रेम संक्रामक है घृणा भी संक्रामक है। हिन्दू-मुसलमान एकता वास्तविक हृदय की सद्भावना के बिना कैसे हो सकती है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि महात्मा गान्धी ने जीवन भर सत्य और अहिंसा का ही पाठ पढ़ाया, परन्तु उनके जीवन का अन्त हिंसा के वातावरण में हुआ और वे अपने लक्ष्य प्राप्ति से निराश रहे।

सद्भावना देश और काल की सीमा के बाहर काम करती है। यदि किसी व्यक्ति को आधी रात के समय सद्भावना भेजी जाय तो वह उसके अचेतन मन को प्रभावित करके लाभ पहुँचाती है। इसके लिये सोते हुए व्यक्ति का ध्यान मनमें लाकर उसके प्रति शुभ विचार भेज देना चाहिये। ये विचार तुरन्त ही सोते हुए व्यक्ति के मन को प्रभावित करके उसके मन में सफलता और स्वास्थ्य की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों को उत्पन्न कर देती है। मनुष्य की सफलता अथवा विफलता, आरोग्य अथवा रोग अचेतन मन की बनावट पर निर्भर करते हैं। यदि अचेतन मन रोग का आवाहन करता है तो व्यक्ति कभी भी आरोग्य की बात नहीं कह सकता, इसी प्रकार विफलता का अधिकारी व्यक्ति सफलता प्राप्त नहीं करता। सद्भावना द्वारा मनुष्य के भीतरी मनको बदल कर भला बनाया जाता है। इससे व्यक्ति अपने आप ही जीवन में आरोग्यवान और सफल बन जाता है।

अपने समीप के सोते हुए व्यक्ति के मन को सद्भावना द्वारा प्रभावित करना तो अत्यन्त सरल वस्तु है। इमीलकूये ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि रोगी के सो जाने पर यदि उससे धीरे-धीरे विश्वास युक्त होकर कहा जाय कि तुम प्रति दिन अच्छे हो रहे हो तो वह शीघ्र ही आरोग्य लाभ कर लेता है। इस प्रकार क्षय, दमा. हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति को हम आरोग्य लाभ करने के विचार आन्तरिक मन में प्रवेश करा कर अच्छा कर सकते। सोते समय विचार व्यक्ति के अन्तर मन में प्रवेश कर जाते हैं। व्यक्ति का अन्तर मनही उसके स्वास्थ्य और रोग का निर्माता है। वह महान शक्तिशाली है। जिस ओर उसकी रुख हो जाती है उसी ओर वह चमत्कार दिखा देता है। अन्तर्मन ही व्यक्ति को दुबलेपन से पहलवान बना देता है, वह मूर्ख को कालिदास बना देता है, परीक्षा में बार-बार फेल होनेवाले बालक को परीक्षा में प्रथम कर देता है। चित्त की एकाग्रता इसी अन्तर्मन के सहयोग का परिणाम है। यह अन्तर्मन जैसा बलवान है वैसा भोला भी है। यदि उस पर विश्वास किया जाय तो वह सभी कुछ कर डालता है और अविश्वास करने की अवस्था में वह विनाश भी कर डालताहै।

सोते समय रोगी से इस प्रकार बात करना चाहिये, मानो रोगी जाग रहा हो। जब व्यक्ति का चेतन मन सोता है तब उसका अचेतन मन जागता है। यह अचेतन मन उससे कही गई सभी बात को पकड़ लेता है। प्रेम पूर्वक किसी बात को कहने पर अचेतन मन उसको चरितार्थ करने लगता है। इस प्रकार सुप्तावस्था के दिये गये निर्देश रोगी को आरोग्य प्रदान करते हैं, दुश्चरित्र को चरित्रवान बनाते, निराशावादी व्यक्ति में स्वालम्बन और आशा की भावना उत्पन्न कर देते

है। किसी प्रकार के शरारती बालक को सुधारने में यह विधि बड़ी ही सफल होती है। उद्दण्ड बालक के सोते समय उसके गुण वर्णन करके शुभ भावना प्रकाशित करना चाहिये कि एक दिन वह संसार का महान व्यक्ति बन जायगा। फिर महानता की ओर बालक बढ़ने लगता है।

हृदय की भाषा के प्रकाशन के कई साधन है। शब्दों के द्वारा तो इसे प्रकाशित किया ही जा सकता है। यह भाषा केवल मुख की मुद्रा अथवा हाथ की मुद्रा से भी प्रकाशित की जा सकती है। प्रेम पूर्वक किसी भी सोते व्यक्ति पर हाथ फेरने से उसे निश्चय ही लाभ होता है। इस प्रकार उसके अनेक रोग नष्ट हो जाते हैं। जब माता सोते बालक के शरीर पर प्यार से हाथ फेरती है तो बालक दिन प्रति दिन उन्नति करते जाता है। इस प्रयोग से एक चोरी करने वाले बालक की चोरी करने की आदत छुड़ाई गई।

कभी-कभी रोगी को स्नेह के साथ सुला दिया जाता है। प्रेम के वातावरण मे कोई भी व्यक्ति जल्दी से सो जाता है। संसार का सब से प्रभावशाली संमोहक-स्नेह ही है। स्नेह के द्वारा किसी व्यक्ति के ऊपर धीरे-धीरे हाथ फेर कर उसके अचेतन मन को सुझा दिया जाय कि उसमें अमुक परिवर्तन हो रहा है तो फिर वैसा ही हो जाता है। इस प्रकार हमने साप के भय से, दमा से, हिस्टीरिया से, हृदय की धड़कन से, परीक्षा के भय से, हकलाहट से तथा सोते समय बिस्तर पर पेशाब करने के रोग तथा अनेक व्यक्तियों को अच्छा किया है। यह केवल सद्भावना के द्वारा आन्तरिक मन के परिवर्तन का ही परिणाम था।

जब हम दूसरे का भला करते हैं तो हमारी व्यक्तिगत भलाई अपने आप ही हो जाती है। जिस प्रकार दो और दो मिलकर चार होते है कम अथवा ज्यादा नहीं होते, इसी प्रकार दूसरे की भलाई सोच कर हम भले के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते। व्यक्ति की कार्य क्षमता उसके अन्तर्मन की शक्ति और सहयोग-पर निर्भर करती है। सभी लोगों का अन्तर्मन भला है। सबकी भलाई का मन में आते ही मनुष्य को अनोखे आनंद और उत्साह का अनुभव होता है। जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति के प्रति बुराई का विचार मन मे आते ही मनुष्य की कार्यक्षमता घट जाती है, इसी प्रकार भलाई का विचार मन मे आते ही मनुष्य की कार्यक्षमता बढ जाती है। यह हमारा प्रति दिन का अनुभव है। प्रेम कर्तव्य को सरल बना देता है। प्रेम की उपस्थिति में खेल और काम में भेद नहीं रहता। जो व्यक्ति जितना ही अधिक जगत को प्यार करते हैं, उनकी मानसिक शक्ति उतनी ही अधिक होती है।

दूसरों के प्रति सद्भावना प्रतिक्षण भेजने से व्यक्ति को अकारण भय और

चिन्ता नहीं सताते। दूसरों के प्रति क्रूर भाव रखनेवाला व्यक्ति अपने आध्यात्मिक शक्ति को खो देता है। फिर वह भीरु (कायर) बन जाता है। वही व्यक्ति वीर होता है जो दूसरों के प्रति सदा सद्भाव भेजते रहता है। अपने भले विचार ही अपना आध्यात्मिक धन हैं। इसी धन के आधार पर हम जगत में अनेक प्रकार की सफलता प्राप्त करते हैं। हमारी बातों से दूसरे लोग तभी प्रभावित होते हैं जब हमें वे निस्वार्थ और परोपकारी मानते हैं।

मनुष्य जितना भला अपने व्यक्तिगत कार्यों से करता है, उससे कहीं अधिक भलाई वह अपना उदाहरण दूसरों के समक्ष रखकर करता है। समाज में एक भी सच्चे सेवक का उपस्थित रहना सारे समाज की काया पलट कर देता है। मानव स्वभाव अन्ततोगत्वा भला है। बुराई की अपेक्षा यदि भलाई अधिक संक्रामक और स्थाई न होती तो संसार ठहरता भी नहीं। अपने आप में भला बने रहना आस-पास के लाखों नरनारियों को अपने सन्निर्देश से भले बनने की प्रेरणा देना है। इसलिये ही किसी भी भले काम को एक बार प्रारंभ करके जल्दी से बन्द न करना चाहिये। एक व्यक्ति की भलाई कालान्तर में समाज भर की भलाई बन जाती है।

नैतिकता का मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य का स्वभाव दो तत्वों का बना हुआ है एक पाशविक और दूसरा दैविक। पाशविक स्वभाव के कारण वह वैसा ही आचरण करता है जिस प्रकार संसार के दूसरे प्राणी आचरण करते हैं। जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणियों में अनेक प्रकार की शरीर पोषण और उसके सुख की इच्छायें हैं, उसी प्रकार मनुष्य में भी ये इच्छायें हैं। शरीर के रक्षा, और उसके सुख की वृद्धि करने वाली जन्म जात प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्तियाँ कहा जाता हैं। ये प्रवृत्तियाँ प्रकृति की प्राणी मात्र को देन हैं। इनकी उत्पत्तिसे जीवन के परंपरागत अभ्यास से होती है। मूल प्रवृत्ति प्राणी मात्र की रक्षा करती और उनकी वृद्धि करती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों का मुख्य ध्येय वैयक्तिक जीवन की वृद्धि है।

नैतिकता का हेतु मनुष्य को अपने व्यापक स्वभाव का ज्ञान करना है। नैतिकता अपने आपको वैयक्तिक जीवन से ऊपर उठाने का साधन है। नैतिकता का आधार प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ बताई जाती हैं। प्रवृत्तिवादी मानव आचरण को दूसरे प्राणियों के आचरण से भिन्न नहीं मानते। जिस प्रकार दूसरे प्राणियों के आचरण का मूल श्रोत उन प्राणियों की सुख की चाह और दु:ख से बचाव है उसी प्रकार मनुष्य के आचरण का भी मूल प्रेरक सुख की चाह और दु:ख से बचाव होता है। पर इस प्रकार मनुष्य के आचरण को समझाना मनुष्य स्वभाव की विशेषता को दृष्टि ओझल करना है। मनुष्य विवेक युक्त प्राणी है मनुष्य का विवेक उसके व्यक्तित्व का प्रसार करता है। विवेक के कारण मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के सुख में अपना सुख देखने लगता है और वह अपने आपकी पूर्णता का तबतक अनुभव नहीं करता जब तक दूसरे लोगों का उससे लाभ न हो।

पशुओं में अपने आवेश को रोकने की शक्ति नहीं रहती, उसे जिस ओर प्रकृति ले जाती है अर्थात् जिस ओर उसकी मूल प्रवृत्तियाँ प्रेरित करती हैं उसी ओर वह जाने लगता है। मनुष्य अपने आपको रोक सकता है, वह जन्म जात प्रकृति के प्रतिकूल आचरण कर सकता है। वह अपने वैयक्तिक स्वार्थ का त्याग करके परमार्थ के काममें अपने आपको लगा सकता है। नैतिकताका आधार मनुष्य की यही आत्म-नियंत्रण की शक्ति है। मनुष्य में यह शक्ति उसी प्रकार जन्म के साथ आती है जिस प्रकार उसकी मूल प्रवृत्तियाँ उसके जन्म के साथ आती हैं। इसका विकास अनुभव की वृद्धि के साथ अवश्य होता है, पर यह अनुभव से उत्पन्न नहीं होती। बहुत से मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य की अपने आपको रोकने की शक्ति उसी प्रकार प्राकृतिक शक्ति है जिस प्रकार उसकी

मूल प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक शक्ति हैं। मूल प्रवृत्तियों से ही इस आत्म नियंत्रण की शक्ति का विकास होता है और इस विकास का साधन व्यक्ति का अनुभव है। एक मूल प्रवृति दूसरी मूल प्रवृत्ति की सहायता करती अथवा उसे रोकती है। मूल प्रवृत्तियों को रोकने वाली मूल प्रवृत्तियों से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं।

यदि हम उक्त सिद्धान्त को मान लें तो नैतिकता को एक प्रकार की चतुराई के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानना पड़ेगा। नैतिकता व्यक्तित्व के प्रसार का हेतु भले ही हो, उसकी सीमा को पार करने का साधन नहीं माना जा सकता। पर नैतिकता को मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तित रूप मानना न्याय संगत नहीं। यदि नैतिकता मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तित रूप मात्र होती तो वह प्राकृतिक आचरण से भिन्न वस्तु न होती। पर वास्तव में नैतिकता प्राकृतिक आचरण से भिन्न वस्तु है। यह मनुष्य की नैतिकता के लिये अपने आपका बलिदान कर देने से प्रमाणित होता है। नैतिकता चतुराई का नाम नहीं, वरन् आत्म-समर्पण का नाम है।

डाक्टर फ्रायड और उनके कुछ अनुयायी नैतिकता को कृत्रिम वस्तु मानते हैं। इसका आधार न तो मनुष्य की मूल प्रवृत्तिया हैं और न कोई दूसरा जन्म जात तत्व। इसका आधार समाज में प्रचलित भावनायें भी हैं। ये भावनायें मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव पर नियंत्रण करती हैं और उसका दमन करती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के रोग इसी दमन के कारण उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में शर्म का भाव नैतिकता के कारण ही आता है नैतिकता मानव स्वभाव पर ऊपर से लादी गई वस्तु है। पहले पहल नैतिकता प्रलोभन और दण्ड की सहायता से लादी जाती है पीछे वह स्वभाव का अंग बन जाती है। मनुष्य के मन में मानसिक द्वन्द्व तबतक रहता है, जबतक उसके मनमें नैतिकता के भाव प्रबल होते हैं। नैतिक भावना ही अन्तर्प्रेरणा का रूप धारण कर लेती है और मनुष्य में आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति उत्पन्न करती है। यदि नैतिकता का प्रतिबंध मनुष्य के मन से उठा लिया जाय तो उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अन्त हो जाय।

उक्त सिद्धान्त उसी प्रकार विवेचनायुक्त बुद्धि से रहित है जैसा प्रकृतिवाद का सिद्धान्त। यदि मनुष्य के स्वभाव मे नैतिकता न होती तो वह समाज मे कैसे आ जाती है? मानव समाज व्यक्तियों का ही बना है। अतएव मानव समाज में उस तत्व की उपस्थिति की संभावना नहीं जो समाज के प्रत्येक व्यक्तिमें न हो। यह संभव है कि हम समाज के किसी विशेष व्यक्ति को बड़ा मानते हों पर बड़े मानने की प्रवृत्ति जब तक हमारे स्वभाव में पहले से ही न हो तब तक हम किसी को बड़ा और छोटा न मानेंगे। वास्तव में अपने आपके भाव ही हम समाज पर आरोपित करते हैं और फिर समाज से हम अपनी ही उधार दी हुई वस्तु वापस

लेते हैं। मनुष्य का मन एक भारी भूल भुलैया है। मनुष्य अपने आपको सीधे प्रकाशित नहीं करता। वह अपने आपको भूला हुआ रहता है, और अपनेही गुण अथवा दोषों को दूसरों पर आरोपित करके उनसे परिचित होता है। सत्य, सौंदर्य और नैतिकता का उदय मनुष्य के मन से ही होता है पर वह यह नहीं जानता है। वह इन्हें किसी बाह्य पदार्थ के ऊपर आरोपित करके पहचानता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने चरित्र के दोषों को दूसरों पर आरोपित करता है, इसी प्रकार वह अपनी पूर्णता को भी दूसरों पर आरोपित करता है, और जिस प्रकार अपने आये दोषों के लिये वह दूसरे व्यक्तियों को कारण मानता है, इसी प्रकार अपने आप में पैदा हुई खूबियों का कारण भी वह किसी बाह्य सत्ता को जान लेता है। धार्मिक लोग ईश्वर को इसका कारण मानते है, प्रकृति वादी प्रकृति को और मनोवैज्ञानिक समाज को कारण मान लेते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति को अध्यास (इन्ट्रोजेक्शन) कहा जाता है। हम अपनी बड़ाई को दूसरे को देकर फिर हम उससे उधार लेते हैं। यह एक विस्मय जनक मानसिक व्यापार है। इस प्रकार का भ्रम अपने आन्तरिक स्वभाव को न जानने के कारण ही होता है।

पर कुछ लोग नैतिकता को भली वस्तु न मान कर उसे बुरी वस्तु ही मानते हैं इसी के कारण समाज मे अनेक प्रकार की झंझटे उत्पन्न होती हैं और वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व होता है। पर यदि उसे बुरा माना जाय तो भी उसे मानव स्वभाव का आवश्यक अंग ही मानना होगा और उसकी जड़ अपने आन्तरिक मन में माननी पड़ेगी। नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से जो कार्य का भाव अथवा आत्मग्लानि उत्पन्न होती है वह मनोविश्लेषण के विद्वानों के कथनानुसार पिछले दण्ड के संस्कारों के कारण ही होती है। जैसे बचपन में अनुचित काम के लिये पिता दण्ड देता है उसी प्रकार प्रौढ़ावस्था के अनुचित आचरण के लिये हमारी अन्तरात्मा दण्ड देने लगती है, पर नैतिकता का आधार दण्ड का भय-चाहे वह बाहरी दण्ड का भय हो अथवा भीतरी दण्ड का, बना देता है, नैतिकता को वास्तव में निकृष्ट वस्तु बना देता है। भय मनुष्य की इच्छा शक्ति को कमजोर करता है और यदि नैतिकता का आधार भय है तो मनुष्य में किसी भी चरित्र के भले गुण का विकास कैसे हो सकता है। चरित्र के गुणों का आधार भय नहीं वरन् प्रेम है। भय प्रेम का विनाशक है और यदि नैतिकता का आधार भय है तो वह त्याज्य वस्तु है।

हमारा विचार है कि सच्ची नैतिकता का आधार प्रेम ही है। नैतिकता मे त्याग की आवश्यकता होती है। यह त्याग बिना प्रेम के सम्भव नहीं। भय वश किया गया स्थायी त्याग नहीं होता, प्रेम वश किया गया त्याग स्थायी त्याग होता

है। ठोस चरित्र की भी प्रेम है प्रेम से इच्छा शक्ति बलवती होती और भय से कमजोर होती है। जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति बलवान नहीं उसका चरित्र ऊँचा कैसे हो सकता है? जहाँ प्रेम है वहीं बल है और वहाँ भय का अभाव होता है, चाहे यह भय समाज का हो, ईश्वर का हो अथवा अन्तरात्मा का, सभी प्रकार के भय बुरे होते हैं।

भय के ऊपर जिन लोगों का सदाचार निर्भर करता है वे भय के चले जाने पर दुराचारी बन जाते हैं। यही कारण है कि अपने आपको कठोर नियंत्रण में रखने वाले व्यक्तियों के मन में भारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व रहता है जो बाहरी संघर्ष में आरोपण के रूप में प्रकाशित होता है। अपने आप पर अत्याचार करने वाला और अपने आपको डरा कर सदाचारी बनाये रखने वाला व्यक्ति कभी भी आन्तरिक मन में सुखी नहीं रहता। उसे किसी न किसी प्रकारकी शारीरिक अथवा मानसिक परेशानी बनी ही रहती है। जब तक मनुष्य के भीतरी और बाहरी मन में एकता का भाव नहीं आ जाता, तब तक उसकी परेशानियों का अन्त नहीं होता। यह एकता का भाव मनुष्य की नैतिकधारणाओं और उसकी सुख की प्रवृत्तियों में साम्य स्थापित करने से आता है। कठोर तप का जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के मन में आन्तरिक शान्ति नहीं रहती। इस आन्तरिक अशान्ति को वह किसी प्रकार भुलाने की चेष्टा करता है। जब तपस्वी व्यक्ति की संसार के लोग प्रशंसा करने लगते हैं तो वह मिथ्या आत्म संतोष प्राप्त करता है। फिर जगत की प्रशंसा प्राप्त करने का भाव ही घोर तप का कारण बन जाता है।

सच्ची नैतिकता की नीति प्रेम और आत्म-सतोष है। जब किसी भोग का त्याग कोई मनुष्य आन्तरिक अथवा बाह्य भय के कारण नहीं वरन् प्रेम के कारण अथवा प्रेम जनित आत्म-संतोष के कारण करता है तो उसे दूसरे किसी प्रकार के पुरस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। प्रेम की भावना ही उस सुख को देती है जो वह भोगेच्छाओं को संतुष्ट न करने के कारण खो देता है। प्रेम पर आधारित नैतिकता में इच्छाओं का दमन नहीं होता, वे प्रेम के प्रवाह से ही तृप्त हो जाती हैं। प्रेम से प्रेरित नैतिकता में किसी प्रकार का दिखावटीपना अथवा अति क्रम नहीं होता। मनुष्य धीरे-धीरे अपने आप पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वास्तव में यह विजय विजय ही नहीं है। यह तो नैतिक और ऐच्छिक मन में प्रेम का ... है। मनुष्य अपने आपको भुला कर अथवा उसकी अवहेलना करके अपने आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता; वह अपने आपको जानकर ही अपने

मैत्री भावना और उत्साह

मैत्री भावना उत्साह की जननी है। हमारे काम करने की शक्ति हमारे भले विचारों के ऊपर निर्भर करती है। जब हमारे विचार दूसरे लोगों के प्रति भले होते है तो दूसरे लोगों के हमारे प्रति भी भले विचार होते हैं। इन भले विचारों के परिणामस्वरूप मन उत्साह पूर्ण होता है और काम करने की शक्ति बढ़ी रहती है। ईर्ष्या द्वेष और घृणा के भाव मानसिक शक्ति को कमजोर कर देते हैं। इन विचारों के कारण मनुष्य उत्साह हीन हो जाता है, उसकी आशाएँ निराशाओं में परिणत हो जाती हैं और वह किसी काम को सफलता पूर्वक नहीं कर पाता।

लेखक के एक विद्यार्थी का हाल का एक अनुभव इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है। यह विद्यार्थी कामर्स कालेज की चौथी क्लास में पढ़ रहा है। पिछले साल यह सर्व प्रथम अपनी परीक्षा में था। इस साल भी सर्व प्रथम रहने की उसकी आशा थी। वह इसी आशा से परिश्रम कर रहा था। इसी बीच उसने सुना कि कक्षा का दूसरा छात्र कुछ अनुचित उपायों को काम में लाकर अर्थात् परीक्षकों पर प्रभाव डाल कर प्रथम स्थान प्राप्त करने की चेष्टा में लगा हुआ है। उसे विश्वास हो गया कि उक्त विद्यार्थी परीक्षकों पर प्रभाव डालने में अवश्य समर्थ हो जायगा, इस विचार ने उसे उद्विग्न मन कर दिया। अब वह निराश हो गया और उसका मन पढने में नहीं लगने लगा। इसी बीच उसने "मानसिक चिकित्सा" और 'अनुभव प्रकाश" नामक पुस्तकें पढ़ीं। उनमे मैत्री भावना के परिणामों को चर्चा है। जिस व्यक्ति से डाह हो उसकी किसी प्रकार से सेवा करने से डाह का भाव मिट जाता है और मनुष्य मे नई शक्ति और सामर्थ्य का उदय होता है। इस विचार को लेकर उक्त विद्यार्थी ने अपने सहपाठी की मदद करने का सकल्प किया और अनेक प्रकार से वह उसकी सहायता करने लगा। इसके परिणामस्वरूप उसके उस विद्यार्थी के प्रति विचार पलट गए। उसका मन पढ़ने लिखने मे लगने लगा। उसने जो कुछ इस संबंध में किया उसका अपने ही शब्दों में वर्णन नीचे दिया जाता है

"जब मुझे विद्यार्थी के प्रति ईर्ष्याभाव उत्पन्न हुआ तो मुझे एक प्रकार की मानसिक ग्लानि के कारण अपने अध्ययन में कुछ अरुचि पैदा हुई। इससे मुझे अपनी पढ़ाई मे अत्यधिक हानि होने की आशंका हुई। इस बीच मैंने शुक्ल जी के कतिपय निबंधों का अध्ययन किया और उनमे संग्रहीत विचारों का मनन करने का अभ्यास प्रारम्भ किया। अभ्यास से मुझे यह ज्ञात हुआ कि यह ईर्ष्या

सहपाठी के साथ मित्रवत् व्यवहार न करने के कारण ही उत्पन्न हुई।

इस निश्चय के साथ मैंने उस सहपाठी को दूसरे दिन से नमस्कार करना प्रारम्भ किया और उसके साथ बैठ कर क्लास में प्रवचन सुनना प्रारम्भ किया। समयानुसार उसे आर्थिक सहायता और पुस्तकें इत्यादि देना प्रारम्भ किया। इससे धीरे धीरे ईर्ष्या भाव घटने लगा। और मेरा मन पुनः अध्ययन में लगने लगा। यही नहीं मैंने इस शक्ति से प्रेरित होकर इतना पढ़ा कि परीक्षा काल में बिना दुहराये ही लिखता रहा क्योंकि रात्रि भर माँ की रुग्ण शय्या के पास जागता रहता और दिन में प्राय. छ घण्टे सोया करता। अब मुझे पूर्ण शान्ति है।"

इस विद्यार्थी से पीछे पूछ ताछ करने से पता चला कि उसका अपने सहपाठी के परीक्षक को प्रभावित करने का विचार भ्रम मात्र था जो ईर्ष्या की मनोवृत्ति के कारण उत्पन्न हो गया था। इस विचार के कारण उसका आत्म-विश्वास कम होगया था। ऐसी अवस्था में मनुष्य कभी-कभी रोग का आवाहन करने लगता है। कोई भी अभिमानी व्यक्ति अपनी कमी को स्वीकार नहीं करता। अपनी कमी को छिपाने के लिए मनुष्य का मन अनेक प्रकार की कल्पित बातों पर विश्वास करने लगता है। कल्पित और वास्तविक रोग भी इसी प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं। आत्म-विश्वास की कमी, ईर्ष्या और दोषारोपण की मनोवृत्ति आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि के परिचायक हैं। इस ग्रन्थि का निराकरण मन में प्रेम की वृद्धि से होता है। जिस व्यक्ति के प्रति हमे सहज ईर्ष्या हो, उसके प्रति उदारता के भाव मन मे लाने से ईर्ष्या की भावना का ही निराकरण नहीं होता, वरन् नई शक्ति का मन में संचार होता है।

जब कभी दो चार मनुष्य आपस में मिलते हैं तो वे अनेक प्रकार की गप्प लगाने लगते हैं। इन गप्पों में दूसरों लोगों की निन्दा अधिकतर होती है। इस प्रकार की गप्प के परिणाम स्वरूप हमारी मानसिक शक्ति और भी नष्ट हो जाती है। दूसरे लोगों के दुर्गुणों की चर्चा करने से मनुष्य में पुरुषार्थ का उदय न हो उसके आत्म-विश्वास की कमी ही होती है। गप्पों के परिणाम स्वरूप आलस्य और निकम्मेपन की वृद्धि होती है। जिस व्यक्ति में दूसरे लोगो के चरित्र के छिद्रान्वेषण की जितनी ही प्रवृत्ति होती है वह उतना ही निकम्मा और हतोत्साह होता है। सभी प्रकार के कामों के भले पहलू पर चित्त को एकाग्र करने से मनुष्य के मन की शक्ति बढ़ती है।

अपने चरित्र के दोषों को बताने वाले व्यक्ति के प्रति हमारा प्राय द्वेष भाव रहता है। जो व्यक्ति इस प्रकार के छिद्रान्वेषण से जितना अधिक चिढ़ता है वह इन दोषों का उतना ही अधिकारी होता है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के एक क्षुद्र

भाव को ही साधारणतः जानता है। उसके व्यक्तित्व की जिन कमियों को वह स्वयं नहीं देखता वे उसकी नुक्ताचीनी करने वाले लोगों को दिखाई देती हैं। जब ये कमियाँ उसे दर्शायी जाती हैं तो वह चिढ़ जाता है। इस चिढ़ने से ही उसकी उपस्थिति प्रकाशित होती है। मनुष्य को परेशान करने वाली वस्तु अपने विचार ही हैं। वाह्य परिस्थितियाँ अपने अव्यक्त विचारों के आरोपण मात्र हैं। अपने से शत्रुता रखने वाले व्यक्तियों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करना, सभी परिस्थितियों में भलाई देखना आत्म-मैत्री को प्राप्त करना है। आत्म-भर्त्सना का भाव ही दूसरे लोगों के द्वारा प्रशंसित होने के भाव में प्रकाशित होता है। जो व्यक्ति दूसरों लोगों की अनुदारता तथा अमैत्री की शिकायत करते रहते हैं वे स्वयं स्वार्थी, अनुदार और ईर्ष्यालु होते हैं। मैत्रीभावना के अभ्यास से मनुष्य के ये मानसिक दोष नष्ट हो जाते हैं और उसके मन में उत्साह और आशा की वृद्धि होती है।

हाल की बात है कि लेखक के पास एक नवयुवक अपने घर के झगड़े की बात सुनाने के लिये आया। इस युवक को अपने घर में जाना जेलखाने मे जाने से भी बुरा लगता था। वह अपने बड़े भाई के पास बचपन से रहता है। परन्तु कुछ वर्षों से उसकी भौजाई का उसके प्रति द्वेष भाव हो गया है। उसका छोटा भाई जब बड़े भाई के पास आया था तब उसने उस पर बच्चों को विष देने का आरोपण किया था। तब से इस युवक का द्वेष और भी अधिक बढ़ गया था। इससे उसका वजन घट गया। भूख नहीं लगती थी। घर का भोजन अप्रिय लगता था। मानसिक खिंचाव की अवस्था में उसे बाध्य होकर हस्त मैथुन करना पड़ता था। इससे इस अवस्था में उसे और भी मानसिक असंतोष होता था। अब उसकी परीक्षा नजदीक आ गई है। यह अन्तिम परीक्षा भी है। अतएव उसने अपने वातावरण से लड़ने की मनोवैज्ञानिक सलाह मांगी।

उससे पहले शान्त भावना का अभ्यास कराया गया। उसकी बातें स्नेह और सहानुभूतिपूर्वक सुन लेने मात्र से उसके मन का भार उतर गया। इससे शान्त भावना का अभ्यास करते समय उसे नींद आ गई। फिर उसे बताया गया कि वह अपनी भाभी को मानसिक रोगी समझ कर उसकी सहायता करने की चेष्टा करे। उसे मानसिक रोग हो चुका था। इससे भाई को परेशानी हुई थी। भाभी के ठीक होने से भाई का जीवन भी सुखी होगा। भाई को यह युवक प्यार करता ही है। इस प्रकार अपने दृष्टिकोण के परिवर्तन से उसे अवश्य लाभ होगा।

मानसिक स्वास्थ्य

डाक्टर फ्रायड ने खोज करके पता चलाया है कि मनुष्य की वासनाओं के दमन से, विशेषकर कामवासना के दमन से, मनुष्य अपने मानसिक स्वास्थ्य को खो देता है। दमन करनेवाला तत्व मनुष्य के नैतिक संस्कार, जो मनुष्य के अचेतन मन के भाग होते हैं, कहते हैं। इसे सेन्सर अथवा सुपर ईगो कहा गया है। दमित वासना अकारण चिन्ता को उत्पन्न करती है। यह चिन्ता ही अकारण भय, उन्माद आदि रोगों में प्रगट होती है। जो मनुष्य कामवासना को गन्दी समझकर उसका दमन करता है, उसमें कामवासना कम न होकर और भी बढ़ जाती है। ऐसा व्यक्ति सब प्रकार की गंदगी से डरने लगता है। वह सब समय सफाई में लगा रहता है, मैले से इतना डरता है कि उसका ध्यान आते ही वह भोजन नहीं कर सकता। कभी कभी अपने सभी ओर मैला ही मैला देखने लगता है। घटों हाथ साफ करता है परंतु हाथ गन्दे ही दिखाई देते हैं।

कामवासना को यदि नागिन के रूप में मान लिया जाय तो मनुष्य सर्प से डरने लगता है, वह अपने आस-पास सर्पही सर्प देखता है। यदि उसे भूत का रूप माना जाय तो मनुष्य भूतों की दुनिया देखने लगता है और इनके डर के मारे जीवन भार रूप बन जाता है। कभी-कभी कामवासना मनुष्य की इच्छा के प्रतिकूल ही उसकी अचेतन अवस्था में प्रगट हो जाती है। संमोहन की अवस्था मे और स्वप्नावस्था मे कामवासना मनुष्य के समक्ष आ जाती है। अनेक प्रकार की सांकेतिक चेष्टायें हाथ साफ करने का अभिनय, ओंठ काटना, पैर हिलाना ये सभी कामवासना के बाहर आने के गुप्त उपाय हैं। शारीरिक रोगों द्वारा भी दमित कामवासना बाहर आती है। देर तक ठहरनेवाली सिर की पीड़ा, दमा, एक्जिमा भी इसके दमन से हो जाता है।

वासना के दमन का कार्य मनुष्य की चेतना के परे अपने आप होता है। रोगी मनुष्य को यह ज्ञात भी नहीं होता कि उसकी वासना का दमन हो रहा है। अतएव यदि वह इस दमन का अन्त भी करना चाहे तो उसमे वह असफल रहेगा। बाहरी लक्षण भीतरी मानसिक स्थिति के ठीक प्रतिकूल होते हैं। जिस व्यक्ति में क्रोध का दमन होता है वह बाहर से अति विनीत, जिसमे काम का दमन है वह तपस्वी और जिसमें ईर्ष्या का दमन है वह उदार दिखाई देता है। इस दमन को कम किये बिना रोग नहीं जाता। परन्तु इस दमन को हटाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसका ज्ञान स्वयं रोगी को नहीं रहता।

मानसिक स्वास्थ्य के लिये मनुष्य की सुख की इच्छा का दमन करना मात्र

पर्याप्त नहीं है, उसके लिये अपने सभी कामों को सबकी भलाई के लिये करना आवश्यक है। डाक्टर फ्रायड ने बताया है कि जो लोग संतान निग्रह के उपायों को काम में लाकर कामेच्छा तृप्त करते हैं उन्हें किसी न किसी प्रकार का मानसिक रोग हो जाता है और जब वे संतान निग्रह के उपायों को काम में लाना बन्द कर देते हैं तो उनका रोग चला जाता है। इसका अर्थ है कि प्रकृति उस व्यक्ति को दण्ड देती है जो कामक्रीड़ा के सुख को बिना उसकी कीमत चुकाये भोगना चाहता है। प्रकृति ने सबसे अधिक सुख रति क्रिया में रखा है ताकि प्राणी उसके सबसे महत्व के कार्य को प्रसन्नता से करे। प्रकृति का उद्देश्य व्यक्ति की रक्षा नहीं जाति की रक्षा है। जो व्यक्ति जाति की रक्षा में किसी प्रकार सहायक होता है उसे प्रकृति शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करती है अर्थात् जो व्यक्ति अपने आपके लिये न जीकर समाज के लिये, मानव जाति के लिये, संसार के लिए जीता है वह सुखी और स्वस्थ रहता है। काम वासना के सुख को छोड़ देने वाले सभी लोग अस्वस्थ नहीं हो जाते। जो लोग समाज सेवा में जीवन व्यतीत कर देते है वे स्वस्थ रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं की तृप्ति मे उसे आरोग्य प्राप्त नहीं होता, वरन् अपने आपको सबके हित के लिये अर्पित करने से आरोग्य लाभ होता है।

दूसरों की सेवा करने के लिये अपनी रक्षा करना, अपनी इन्द्रियों और शरीर को बली बनाना, उनकी भूखों की तृप्ति करना आवश्यक है। इस तृप्ति के बिना मनुष्य में काम करने की क्षमता नहीं आती। इन्हे तृप्त करने से मनुष्य को सुख होता है। ऐसा सुख मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। प्रकृति मनुष्य को सुख उसका काम करने के लिये देती है। हरबर्ट स्पेन्सर के इस कथन मे मौलिक सत्य है कि जो वस्तु जीवनदायनी होती हैं वही सुखद भी होती हैं। यदि मनुष्य का जीवन प्राकृतिक हो तो उसे रोग न हों। प्रकृति स्वयं मनुष्य को परमार्थी और परोपकारी बनने की प्रेरणा देती है। जो लोग स्वार्थ और अहँकार बस प्राकृतिक प्रवृत्तियों को दबाते हैं वे ही रोगी बनते हैं। अहँकार को समर्पित करके जो प्रकृतिके नियम को पालते है वे प्रसन्न मन और आरोग्यवान बनते हैं। प्रकृति का लक्ष्य आध्यात्मिक विकास है। प्राकृतिक विधान मौलिक विधान है।

✂

स्नेह और अहंकार

मनुष्य के जीवन में दो तत्व काम करते हैं एक स्नेह और दूसरा अहंकार। अहंकर मनुष्य को सीमित बनाता है। वह व्यक्तिगत उन्नति के लिये मनुष्य को प्रेरित करता है। इसी के कारण मनुष्य शरीर में, बुद्धि में, यश और कीर्ति में दूसरों से अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इसी के कारण मनुष्य घर द्वार बनाता है और अपार धन संचय करता है। इसके अधिक बढ़ जाने पर मनुष्य दूसरों पर प्रभुता जमाने की चेष्टा करता है। जब एक व्यक्ति का अहंकार दूसरे व्यक्ति के अहंकार से टकराता है तो बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार में धक्का लग जाने से मनुष्य का जीवन मृत्यु तुल्य हो जाता है। जो मनुष्य अपने आपमें किसी बात की कमी का अनुभव करता है, वह इस कमी को अपनी और दूसरों की दृष्टि से ओझल करने के लिये किसी दूसरी ओर असाधारण वृद्धि करने लगता है। इसके कारण वह संसार में असाधारण काम कर डालता है। जिस मनुष्य के मन में किसी कारण आत्म-ग्लानि होती है वह इसे भुलाने के लिये आत्म-प्रशंसा प्राप्ति के अनेक उपाय रचता है।

दूसरों पर अधिकार जमाने की इच्छा भी अहंकार तत्व का अंग है। सभी प्रकार की वृद्धि द्वारा हम दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं और इस प्रकार हम उनपर अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं। जिन लोगों में वास्तविक योग्यता है वे अपनी योग्यता द्वारा, भले कामों द्वारा, दूसरों पर अधिकार जमाते हैं और जिनमें यह योग्यता नहीं है वे अपने दुर्गुणों के द्वारा ही अधिकार जमाते हैं। ऐसे लोग दूसरों को त्रास देते हैं। दुराचरण अधिकार जमाने की इच्छा का ही परिणाम है। जब मनुष्य किसी प्रकार दूसरों पर अधिकार नहीं जमा सकता तो वह बीमार होकर दूसरों पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है। डा० अलफ्रेड एडलर के अनुसार मानसिक रोगों का एक मात्र कारण दूसरों पर अधिकार जमाने की इच्छा है रोग में यह इच्छा विकृत मार्ग से प्रकाशित होती है। जिस मनुष्य का जितना अधिक अहंकार बढ़ा रहता है उसकी तृप्ति की उतनी ही कम संभावना रहती है। ऐसे व्यक्ति का क्रूर कर्मी होना अथवा मानसिक रोगी बनना उतना ही स्वाभाविक होता है। जब मनुष्य के स्वाभिमान को ठेस लगती है तो वह अपमान करने वाले लोगों का नाश कर देना चाहता है अथवा उन्हें दण्ड देना चाहता है। जब वह ऐसा करने में असमर्थ रहता है तो वह आत्महत्या करता है अथवा मानसिक या शारीरिक रोगी बन जाता है। मानसिक और शारीरिक रोग मनुष्य को आत्म-हत्या से बचाते हैं। जिस मनुष्य का जितना अभिमान रहता है

उसका मानसिक असंतोष भी उतना ही बढ़ा रहता है। ऐसे व्यक्ति को रोगी बनने की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है।

सभी लोगों में सामान्य अभिमान होना अनिवार्य है। जिस मनुष्य में अभिमान की बिलकुल कमी होती है वह किसी काम को लगन के साथ नहीं कर पाता। मनुष्य अभिमान के कारण ही दूसरों का उपकार ग्रहण नहीं करता। वह स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करता है और समाज में ख्याति प्राप्त करने के लिये उसकी भलाई के लिये अनेक कार्य करता है। अभिमान के कारण ही मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करता और तपस्वी बनता है। तप मनुष्य की मानसिक शक्ति को बढ़ाता है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बढ़ जाता है और वह दूसरे लोगों को अपने विचारानुसार चलाने में समर्थ होता है।

अभिमान जब अपनी सीमा से अधिक बढ़ जाता है तभी वह व्यक्ति और समाज दोनों की हानि करता है। एक मनुष्य के अभिमान को देखकर दूसरे मनुष्य में भी अभिमान का भाव जाग्रत होता है और फिर दोनों के अभिमान में टक्कर हो जाता है। बढ़े चढ़े अभिमान से व्यक्ति हर जगह अपने शत्रु बना लेता है। ऐसे लोगों को पेरानोइया का रोग हो जाता है। ऐसे लोग हर एक व्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे सोचते हैं कि दूसरे लोग उनके प्रति षड़यंत्र कर रहे हैं, उनके चारों ओर गुप्तचर फैले हुए हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति से पीड़ित होकर वे आत्म-हत्या ही कर लेते हैं।

अभिमान की औषधि स्नेह है। स्नेह मनुष्य को दूसरों के प्रति आकर्षित करता है और दूसरों के हित में अपने हित को पहचानने के लिये प्रेरणा देता है। जिस मनुष्य का स्नेह जितना ही अधिक होता है उसका अभिमान उतना ही कम होता है। मानसिक रोगी को अधिक आत्मग्लानि होती है। इसका कारण उसका बढ़ा-चढ़ा अभिमान ही होता है। आत्मग्लानि को भुलाने के लिये वह रोग का आवाहन करता है। वह अपने आपको किसी न किसी प्रकार भूल जाना चाहता है। रोग आत्महीनता की विस्मृति का उपाय है। यदि मनुष्य का अभिमान किसी प्रकार कम हो जाय तो उसका रोग अपने आप ही चला जाय। जब रोगी को स्नेह दर्शाया जाता है तो वह भी अपने भीतर स्नेह का अनुभव करता है। यह स्नेह के अनुभूति ही मनुष्य की अभिमान जन्य मानसिक ग्रन्थि को नष्ट कर देता है। जिन बालकों को बचपन से स्नेह नहीं मिलता, उनमें आत्महीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है। यह आत्महीनता का भाव ही अभिमान का जनक होता है। यदि प्रारंभ से ही बालक को स्नेह के वातावरण में रखा जाय तो उसमें न तो आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न हो और न उसका अभिमान ही

सीमा से अधिक बढ़े।

जिन लोगों को बचपन में स्नेह न मिलने के कारण मानसिक विकार उत्पन्न हो गया है, जिनके अभिमान की पूर्ति न होने के कारण अनेक प्रकार के रोग आ गये हैं यदि उन्हें स्नेह दिया जाय तो वे रोग से मुक्त हो सकते हैं। रोग मनुष्य के अभिमान को बनाये रखता है। मनुष्य को जब तक कि अभिमान अधिक मौलिक स्वत्व का अनुभव नहीं हुआ तब तक वह अभिमान को नहीं छोड सकता। यदि अभिमान के रक्षार्थ रोग को पकड़े हुए किसी व्यक्ति का रोग हटा लिया जाय तो वह आत्महत्या ही कर लेगा। अभिमान का बना रहना ही सामान्य पुरुष के लिये जीवन है। स्नेह अभिमान की आवश्यकता ही हटा देता है। अभिमान मनुष्य को झूठी शान्ति देता है और स्नेह सच्ची शान्ति देता है। स्नेह मनुष्य को सबसे एकता का अनुभव करा कर आत्मा की महानता का अपरोक्ष अनुभव कराता है और अभिमान उसे वैयक्तिक महानता में डालता है। जब एक बार मनुष्य स्नेह की मौलिकता को पहचान लेता है तो उसे अभिमान को धारण किये रखने की आवश्यकता नहीं होती।

सभी धर्म मनुष्य को स्नेह का जीवन रखने और अभिमान को त्यागने के लिये शिक्षा देते हैं। जब मनुष्य अपने सभी विचार, कार्य और शब्द सबके कल्याण के लिये दे देता है तो उसे अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। ऐसे व्यक्ति के मन में किसी प्रकार की आत्म-ग्लानि की भावनायें नहीं आतीं। जो व्यक्ति अपने आपको महान् बनाने की इच्छा नहीं रखता उसे झूठी महानता धारण करने का दण्ड भी नहीं भोगना पड़ता। सभी के हित के लिये सब समय सोचने वाले व्यक्ति को कोई भी मानसिक रोग नहीं होते। मानसिक रोगियों को जब लोक कल्याण के काम में लगा दिया जाता है तो उनका रोग अपने आप ही शान्त होता है। यह काम साधारणत इस प्रकार का होना चाहिये जिससे उस व्यक्ति की अभिमान की वृत्ति का पोषण न होकर प्रेम वृत्ति का पोषण हो। बच्चों को खिलाना-पिलाना, उन्हें पढाना उनसे प्यार करना, उनका निरीक्षण, लालन-पालन करना अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को हरता है। जब व्यासजी को बहुत विद्या अध्ययन, अध्यापन से मानसिक अशान्ति हो गई तो नारदजी ने उन्हें कृष्ण लीला गाने के लिये कहा। इससे उन्हें जो शान्ति हुई सभी के लिये पथ प्रदर्शक है। इसने उनका अभिमान हरण करके बालक का साथी बना दिया। जब उनका अभिमान घट गया तो उनका असंतोष भी जाता रहा। सच्चा स्नेह सभी मानसिक रोगों की औषधि है।

अलौकिक शक्ति का विकास

मनुष्य के मन में जितनी शक्ति है उसका न तो उसे कभी ज्ञान हो पाता है और न वह उसका उपयोग कर पाता है। जितनी शक्ति हमारे मन मे है उसका क्षुद्र भाग ही हम जानते हैं और उसी से हम अपना काम चलाते हैं। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के व्यक्तित्व मे और कोई भी भेद नहीं है, भेद केवल अपनी शक्तियों का साक्षात्कार करने का है। हम जितनी शक्ति प्रकृति से माँगते हैं उतनी शक्ति हमें मिलती है और जितनी हम नहीं माँगते उतनी नहीं मिलती। परन्तु प्रकृति हमारी माँग के साथ-साथ यह भी देखती है कि उस शक्ति का उपयोग क्या करेंगे? कहा जाता है कि 'खुदा गंजे को नाखून नहीं देता'। इसी प्रकार प्रकृति उस व्यक्ति को अलौकिक शक्ति नहीं देती जो उसका सदुपयोग करना नहीं जानता। जो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये ही अपनी सारी मानसिक शक्तियों को काम मे लाना चाहता है वह उन शक्तियों का अपने आप में जागरण नहीं कर पाता। जिस व्यक्ति के कार्यों का लक्ष्य जितना महान् होता है; उसके मन में अनायास उतनी ही अधिक शक्ति आ जाती है।

संसार का यह अटल नियम है कि देने और लेने का पलरा सदा बराबर रहता है। जहाँ कुछ खर्च और त्याग नहीं होता वहाँ प्राप्ति भी नहीं होती। जो मनुष्य अपना धन दूसरों की सेवा में खर्च करता है वह लोक सम्मान और लोकख्याति को प्राप्त करता है। लोक-सेवा लोक प्रियता लाती है। इसी प्रकार संसार के साधारण सुखों को त्याग मनुष्य में अलौकिक मानसिक शक्ति का जागरण करता है। हमारे त्याग से लौकिक सफलता और लौकिक सुख सुलभ हो जाते हैं। परन्तु जो व्यक्ति अपने आपको इन सुखों और सफलता में भुला देता है वह फिर अपनी उस शक्ति को खो देता है जिसके कारण ये सुलभ हुए।

मनुष्य का जितना त्याग होता है उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। बिना किसी त्याग के किसी प्रकार की मानसिक शक्ति का विकास नहीं होता। विद्या में लगन मनुष्य को विद्वान बनाता है, धन में लगन धनवान, इसी प्रकार आत्मज्ञान में लगन रखनेवाले व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है। सभी बातों की प्राप्ति के लिये त्याग की आवश्यकता होती है। बहुत से लोगों में संकल्प सिद्धि होती है। यह सिद्धि उन्हीं लोगों में पाई जाती है जिन्हे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता। मनुष्य की वैयक्तिक इच्छायें उसके मन मे अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प पैदा करती है। इन संकल्प विकल्पों मे उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। जब तक मनुष्य की शक्ति एक ओर केन्द्रित नहीं होती वह कोई भी बड़ा कार्य

करनेमें समर्थ नहीं होता। परन्तु अपनी शक्ति को एक ओर केन्द्रित करने के लिये अपने लक्ष्य को व्यापक और ऊँचा बनाना आवश्यक है।

विचार की शक्ति से मनुष्य अपने अनेक प्रकार के कष्टों से मुक्त हो जाता है; वह अनेक प्रकार के रोगों का अन्त कर सकता है। इससे वह अपनी स्मरण शक्ति को अतुलित बना सकता है। वह दूसरे लोगों के विचारों को भी जान सकता है। वह अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को सरलता से ही हल कर सकता है। परन्तु इन सब बातों के लिये त्याग की आवश्यकता होती है। जहाँ त्याग नहीं वहाँ किसी प्रकार की प्राप्ति भी नहीं होती। मनुष्य का मन त्याग से बली होता है और ग्रहण से निर्बल होता है। जब मनुष्य का मन भोगासक्त हो जाता है तो उसमें निर्बलता आ जाती है। ऐसे व्यक्ति को अनायास कोई अभद्र विचार आ घेरता है। फिर इन विचारों के अनुसार व्यक्ति संसार में यंत्रणा पाने लगता है। मनुष्य जब अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है तो उसमें त्याग की मनोवृत्ति अपने आप ही आ जाती है। इस मनोवृत्ति के आने पर मन का भार उतर जाता है। फिर मन में वह बल आ जाता है जिसके कारण वह शुभ निर्देशों को ग्रहण कर सके। निर्बल मन के व्यक्ति को बुरे विचार ही सूझते हैं और प्रबल मन के व्यक्ति को भले विचार सूझते हैं।

मनुष्य के मन की अलौकिक शक्ति को उसके रोग के उत्पादन और उसके विनाश में देखा जाता है। कितने ही मनुष्य ऐसे रोगों के भय से मर जाते हैं जो उन्हें अन्यथा घातक न होते। प्लेग के भय से जितने लोग मरते थे उतने प्लेग से नहीं मरते थे। फिर कितने ही लोग अपने आपके जीने के दृढ़ निश्चय से घातक रोगों से बच जाते हैं। पर इस प्रकार का दृढ़ निश्चय वैयक्तिक इच्छा-मात्र से नहीं आता। इसके लिये समष्टि की इच्छा की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति का जीना उससे संबन्ध रखनेवाले अनेक लोग चाहते हैं वह मृत्यु के मुख से भी बच जाता है और जिसकी मृत्यु उससे संबंध रखनेवाले सभी लोग चाहने लगते हैं वह देवलोक चला जाता है। उसका अपना चाहना भी उसी ढंग का हो जाता है, जिस प्रकार का दूसरे लोगों का उसके विषय में चाहना होता है। यह चाहना कभी-कभी फल का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार मृत्यु का भय भी आन्तरिक मन की इच्छा का प्रतीक है।

मनुष्य अपने अभद्र विचारों से सरलता से मुक्त नहीं होता। इसके लिये भी त्याग की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक त्याग करता है वह अपने विचारों को उतना ही अधिक सृजनात्मक बना लेता है। जीवन के सभी संकल्पों और इच्छाओं का त्याग कर देना मनुष्य को दैवी शक्ति प्रदान करता है।

परोपकार के निमित्त लाये गये विचारों में जो बल होता है वह स्वार्थयुक्त विचारों में नहीं रहता। यही कारण है कि किसी भी संत-महात्मा के दर्शनका एक लाभ यह होता है कि हम में भी उसी प्रकार के त्याग की शक्ति आ जाती है जो महात्मा में होती है। मनुष्य के जिस प्रकार दुर्गुण संक्रामक होते हैं उसके सद्गुण भी संक्रामक होते हैं। चतुर और चालाक मनुष्य अपने आसपास के लोगों में चतुराई और चालाकी के विचार फैला जाता है, और सरल चित्त वा उदार व्यक्ति अपने आसपास के लोगों में सरलता और उदारता फैला जाता है।

परन्तु यह बात निश्चित है कि बिना दिये कुछ नहीं मिलता। मानसिक रोगों को चिकित्सा में देखा गया है कि जो लोग मैत्रीभावना का अभ्यास करते हैं वे मानसिक रोगों से सरलता से मुक्त हो जाते हैं। मैत्रीभावनाका सक्रिय होना आवश्यक है। मैत्रीभावना से त्याग करना सरल हो जाता है। इससे रोगी का मन बलवान होता है। फिर जब रोगी का मन बली हो जाता है तो उसे किसी भी प्रकार के सन्निर्देश प्रभावित करते हैं। वे उसके आरोग्य को बढ़ाते हैं। उसके विचारों में उसे आरोग्य प्रदान करने की शक्ति तब आ जाती है जब वह उसके लिए पर्याप्त त्याग करता है। जिस व्यक्ति को मृत्यु का भय सताता हो वह यदि अपने जीवन का उद्देश्य लोकसेवा बना ले तो उसकी मृत्यु का भय ही नष्ट हो जाय। जिस व्यक्ति को मनुष्य जोर से पकड़े रहता है उसी के विषय में उसे भय होता है। जीवन मरण के प्रति उदासीनता का भाव मनुष्य को मृत्यु के प्रति निर्भीक बना देता है।

यदि मनुष्य चाहे तो अपने संपर्क से किसी भी व्यक्ति के विचार बदल दे। परन्तु यह तभी होता है जब उसका जीवन तप और त्यागमय होता है। जिस मनुष्य का अपने आपके विचारों पर जितना अधिक अधिकार होता है उसका दूसरे व्यक्ति के विचारों पर भी उतना ही अधिक अधिकार होता है। अपने विचारों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये उन्हें अपनी वासनाओं से मुक्त करना पड़ता है। जब तक मनुष्य का विचार इच्छा से नियंत्रित रहता है तबतक उसका मन डाँवाँडोल रहता है, ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन पर भी कोई प्रभाव नहीं डाल पाता। इच्छा का त्याग करने पर अपने विचार परमात्मा के विचार बन जाते हैं। फिर वे अपने आपके संपर्क में आनेवाले लाखों लोगों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार भगवान कृष्ण, बुद्ध, कबीर कृष्ण आदि के विचार आज भी संसार के लाखों लोगों को प्रभावित करते हैं। वे दूसरे लोगों के हृदय पर इसलिये अधिकार कर लेते हैं क्योंकि उनके विचारों में व्यक्तिगत स्वार्थ की शून्यता है।

कितने ही लोग जप, होम, यज्ञ आदि से विचार की शक्ति का विकास करते हैं। इस प्रकार जो शक्ति बढ़ती है वह क्षणिक होती है। यह एक प्रकार से आत्म-निर्देश से अपनी शक्ति को बढ़ाना है। परन्तु इस शक्ति को स्थायी रखने के लिये सतत त्याग की आवश्यकता है। सच्ची शक्ति तो मनुष्य को आत्मा से ही मिलती हैं। जो मनुष्य सोचता है कि उसकी आत्मा भली है उसका लक्ष्य भला है वह महान् शक्ति का केन्द्र हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति सोचता है कि उसका कार्य निन्द्य है वह अपनी मानसिक शक्ति को खो देता है। आत्मप्रसाद से बढ़कर शक्ति वृद्धि का दूसरा कोई साधन नहीं, और आत्म-भर्त्सना से अधिक घातक शक्तिविनाशका कोई दूसरा अस्त्र नहीं है। आत्म-भर्त्सना एक प्रकार का क्षय रोग है, जो मनुष्य की सभी मानसिक और शारीरिक शक्ति को नष्ट कर डालता है।

मनुष्य की शक्ति उसके आत्म-निर्देश और निश्चय पर निर्भर करती है। तप और त्याग से निश्चय की दृढ़ता आती है और प्रतिदिन के आत्म निर्देश से यह दृढ़ता और भी बढ़ती जाती है। किसी भी कार्य में सफल होनेवाले व्यक्ति का निश्चय दृढ़ होता है और उनमें आत्म-निर्देश की शक्ति प्रबल होती है। मनुष्य का पहले निश्चय डाँवाडोल होता है, पीछे उसके सभी काम खराब होते हैं। निश्चय का ढीला पड़ जाना स्वार्थपरायणता के कारण होता है। निश्चय की शक्ति मनुष्य के त्याग के ऊपर निर्भर करती है। जब मनुष्य में त्याग की कमी हो जाती है तो उसका आत्म-विश्वास भी कम हो जाता है। इसके साथ-साथ उसके निश्चय की कमी हो जाती है। फिर उसके आत्मनिर्देश रचनात्मक न होकर नकारात्मक होने लगते हैं। इस प्रकार उसकी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास हो जाता है।

मानसिक शक्ति के बढ़ने के विषय में एक बात सदा ध्यान मे रखने की यह है कि संसार के लोगों को कोई भी मनुष्य धोखा दे सकता है। परन्तु वह अपने आपको धोखा नहीं दे सकता। मनुष्य को जो कुछ अलौकिक शक्ति प्रकृति से प्राप्त होती है वह उसके दैवी स्वत्व की देन है। यह उसकी आत्मा ही है। यह सब कामों का साक्षी है। मनुष्य जितना अपने इस साक्षी स्वत्व को ध्यान में रखकर काम करता है वह अपनी शक्ति को उतना ही अधिक बढ़ा लेता है। जितना ही मनुष्य अपने सच्चे स्वत्व की प्राप्ति की चेष्टा करता है वह उतना ही अधिक शक्तिवान भी होता है। जिस मनुष्य के जीवन के ध्येय व्यापक है वह अवश्य ही असाधारण कार्य करने में समर्थ होता है। वह प्रकृति से ऐसी शक्ति भी पा लेता है। परोपकारी व्यक्ति ही बलवान और सुखी होता है; स्वार्थी मनुष्य सदा बलहीन और दु:खी रहता है।

आत्म-सम्मोहन

ज्ञान संग्रह से हम अपना आध्यात्मिक धन सदा बढ़ाते रहते हैं। जिस प्रकार एक एक पैसा जमा करके धन का हम धन का अम्बार लगा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार ज्ञान तथा सद्विचारों के निरंतर जोड़ने से हमारा आध्यात्मिक बल बहुत बढ़ जाता है, आत्मबल में प्रचुर वृद्धि होती है। मन के अन्दर के द्वन्द्व एवं सम्पूर्ण उच्छृंखलताएँ मिट जाती हैं। यह आत्मसम्मोहन की अवस्था है, जिसमें आत्म-समन्वय स्थापित हो जाता है। मन को बाँधना जीवन का बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, यह अपने तथा दूसरों के लिए भी है। अपने को आरोग्यवान बनाना दूसरों को आरोग्यवान बनाने की अपेक्षा अत्यधिक कठिन है।

विद्वान, धनी तथा किसी भी दृष्टि से भौतिक-प्रभुता वालों के मन में द्वन्द्व बना रहता है। वे सदैव सशंकित रहा करते हैं। किसी पर विश्वास करना तो दूर की बात, शंका की अवस्था में की गई कल्पनाएँ शंका में ही रहकर असफल हो जाती हैं। इसके विपरीत दृढ़ संकल्प की अवस्था में मन की संपूर्ण एकता में किए गये संकल्प एवं कल्पनाएँ शत प्रतिशत सफल होती हैं। आत्म-सम्मोहन मन को वश में करने का उपाय है। आत्म-सम्मोहन की अवस्था में मन स्थिर हो जाता है तथा उस अवस्था में किए गए आत्म-निर्देश द्वारा भयंकर से भयंकर शारीरिक तथा मानसिक रोग जाते रहते हैं। साधु-महात्माओं तथा महापुरुषों के आशीर्वाद आदि से मानसिक स्थिरता स्थापित हो जाती है और यही कारण है कि प्रबल विश्वास के द्वारा अनेकों शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। अचेतन मन में किसी भी व्यक्ति वस्तु अथवा कार्य के प्रति प्रबल विश्वास उत्पन्न हो जाने पर हमारी आंतरिक शक्ति बढ़ जाती है और हम आरोग्य-लाभ करते हैं।

हिस्टीरिया तथा अनेक अन्य मानसिक बीमारियाँ निर्देश और संक्रमण द्वारा हो जाती हैं। इस अवस्था में व्यक्तित्व का विभाजन हो जाता है, जिसके समन्वय के लिए चिकित्सक को स्वयं ही आत्म-सम्मोहित होना आवश्यक है। आत्म-सम्मोहन की अवस्था में रहने वाला व्यक्ति अथवा जो आसानी से आत्म-सम्मोहन की अवस्था प्राप्त कर लेता हो, अपनी इच्छा-शक्ति बढ़ा लेता है। अपने मन से मनमानी करा लेता है। पर यदि उसका प्रयोग ध्वंसात्मक दिशा

में हुआ तो समाज तथा स्वयं अपना अत्यधिक अपकार होता है। इसके विपरीत उस शक्ति के रचनात्मक प्रयोग से सबका अपार लाभ हुआ करता है।

आत्म-सम्मोहन एक साधना तथा योग की अवस्था है। साधारण अवस्था में, चेतन जगत के अनावश्यक सवालों, उत्थान पतन की ओर से तथा आलोचनाओं की ओर से उदासीन रहने से एवं उनके प्रति निर्लिप्तता की भावना रखने से हम स्वतः आत्म-सम्मोहन की वृत्ति बना लेते हैं। निरंतर अभ्यास आत्म-सम्मोहन में सहायक होते हैं। आत्म-सम्मोहन की शक्ति द्वारा जब मानसिक शक्ति बढ़ जाती है तब उसका उपयोग समाजिक उपकार के लिए करना चाहिये। नए नए उपकारी कार्य वह प्रारम्भ करे, सब कार्यों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त होगी। गलत और विनाशकारी उपयोग से सर्वनाश तथा सही उपयोग से उपकार होता है।

मन के विभाजन से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, तथा समन्वय से उनका नाश होता है। मानसिक स्वास्थ्य के लाभार्थ स्वयं के द्वारा किए गये कार्य 'योग' कहलाते हैं तथा दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य को मानसिक चिकित्सा की संज्ञा मिलती है।

यदि नित्यप्रति प्रात हम अकेले बैठकर शांत भावना से, सर्व कल्याण की कामना करते हुए शून्य अवस्था प्राप्त कर लें तो संपूर्ण विश्व कल्याण पूर्ण हो जाए। सभी प्रकार के द्वन्द्व विकृति समाप्त हो जाएँ और शिव-साक्षात्कार हो जाये। इस क्रिया से द्वन्द्व और विकृति का वास्तविक श्रोत अचेतन मन भी कल्याणकारी हो जाता है और सब कुछ भला हो जाता है।

यदि हम सोचें की कोई हमारी शिकायत नहीं करता, सभी हमें प्यार तथा प्रशंसा करते हैं, हम सचमुच वैसे बन जाते हैं। विपरीतता अनुकूलता में बदल जाती है। विपरीतता और द्वन्द्व विचार से ही हम सभी जगह सघर्षमय स्वार्थ तथा कलह से पूर्ण दीखते हैं। प्रेम के द्वारा हमारे प्रत्येक शब्द में ओज और वजन आ जाता है। आत्म-सम्मोहन के द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त हो जाने पर हमारे सभी संकल्प पूरे हो जाते हैं।

आत्म-विश्वास बढ़ाने के उपाय

मनुष्य की सभी प्रकार की सफलता का आधार उसका आत्म-विश्वास होता है। आत्म-विश्वास केवल भौतिक साधनों पर आश्रित वस्तु नहीं है, वह आन्तरिक ग। की अनुभूति है। इस अनुभूति के अभाव में सभी प्रकार के भौतिक साधन व्यर्थ हो जाते हैं। जब मनुष्य में आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है तो वह भौतिक साधनों को जुटाने लगता है। वह इनके आधार पर अपने आत्म-विश्वास को बढ़ाना चाहता है; परन्तु जितना ही वह बाहरी वस्तुओं का आत्म-विश्वास बढ़ाने के लिए सहारा लेता है, उसका आत्म-विश्वास और भी कम हो जाता है।

आत्म-विश्वास कम होने की बातों को छोड़ना आत्म-विश्वास को बढ़ाने की पहली आवश्यकता है। परनिन्दा, झूठा व्यवहार, दूसरे की हानि के विचार, आराम तलबी, आलस्य और माँगने की मनोवृति मनुष्य के आत्म-विश्वास को कम कर देते हैं। कितने ही लोग सदा बकवाद करते रहते हैं। इस प्रकार की बकवाद में दूसरों की निन्दा होती है। दूसरों की निन्दा करना अपनी कमी को छिपाने का उपाय है। इस प्रकार कमी छिपाने से मनुष्य की मौलिकता नहीं बढ़ती अपितु और भी घटती है। दूसरे की निन्दा करना उसकी हिंसा करना है। इस हिंसा का प्रतिकार आत्म-विश्वास की कमी हो जाने में हो जाता है। दूसरे की निन्दा करना और सुनना दोनों ही बुरा है। निन्दा सुनने से भी हम अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें नीचे गिराने में भाग लेते हैं। इससे हमें लाभ न होकर हानि ही होती है। हमारा अपना ही आत्म-विश्वास खो जाता है।

दूसरे व्यक्ति की किसी प्रकार की हानि का चिन्तन करना मनुष्य के आत्म-विश्वास को कम कर देता है। कभी कभी पूरे समाज की भलाई के लिए किसी व्यक्ति विशेष की हानि करनी पड़ती है अथवा उसका चिन्तन करना पड़ता है। इससे मनुष्य के आत्म-विश्वास की कमी नहीं होती अपितु वृद्धि ही होती है। सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिए उसे हानि पहुँचाने वालों का विनाश करना ही पड़ेगा। यह पुनीत कार्य है। ऐसा कार्य मनुष्य के आत्म-विश्वास को बढ़ाता है।

झूठा व्यवहार भी मनुष्य के आत्म-विश्वास को घटाता है। दूसरे को धोखा देने की बुद्धि जब बढ़ जाती है, तो मनुष्य अपने आप को भी धोखा देने लगता है। फिर वह अपने किसी प्रकार के संकल्प के लिए आन्तरिक समर्थन नहीं पाता। कभी कभी हम लोगों से कह देते हैं कि हम उनका अमुक कार्य कर देंगे जब कि उस काम को करने की हमारी आन्तरिक इच्छा नहीं रहती। कभी कभी

वचन देकर भी हम काम को पूरा नहीं करते, उसे भूल जाते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से मनुष्य का मन अनियंत्रित हो जाता है, वह अपनी शक्ति में ही विश्वास खो देता है। दूसरों को दिए गए वचन और आशाओं को पूरा करना आत्म-विश्वास बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय है। जैसा दूसरे लोग हमारे बारे में बार बार सोचते हैं वैसा ही हम अपने बारे मे सोचने लगते हैं। दूसरे लोगों का अपने ऊपर विश्वास आत्म-विश्वास बन जाता है।

आलसी और आराम तलब व्यक्ति को आत्म-विश्वास होना असम्भव है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक रचनात्मक कार्य करता है वह अपने मन को उतना ही बस में करके रखता है। आलसी-पन से मन का नियन्त्रण चला जाता है। काम करने से इच्छाशक्ति दृढ होती है और आराम की खोज से वह निर्बल हो जाती है। बैठे से बेगार भली। इससे और लाभ नहीं होता तो अपना आत्म-विश्वास तो बढ़ता ही है। हम कितना ही ऐसा काम करते हैं जिसका हमें समाज पुरस्कार नहीं देता। इस प्रकार के काम करने का सबसे मौलिक लाभ अपने आप पर विश्वास हो जाता है। सदा काम करते रहने से मनुष्य की सभी मानसिक शक्तियों का विकाश होता है।

अपने आत्म-विश्वास को खोने का सबसे बड़ा कारण माँगने की मनोवृत्ति है। जो मनुष्य जितना ही समाज को कुछ देता है वह आत्म-सम्मान का अपने आप में उतना ही अनुभव करता है। जो समाज में जितना ही लेने की भावना रखता है वह अपने आत्म-विश्वास को उतना ही घटा लेता है। भिखारी का सम्मान न तो दूसरे करते हैं और न तो उसे ही आत्म सम्मान होता है। भिक्षावृत्ति से पढने वाले बालक अपना आत्म-विश्वास खो बैठते हैं। वास्तव में मनुष्य बाहर से कुछ नहीं पाता। अपने किये का फल ही उसे मिलता है। जो व्यक्ति ऐसी वस्तु पाने की चेष्टा करता है जिसका वह अधिकारी नहीं है वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है। यह न पाकर और पाकर भी खोया जाता है।

मनुष्य का आत्म-विश्वास उसके सञ्चय का परिणाम है। स्थूल बुद्धि के लोगों का सञ्चित द्रव्य स्थूल पदार्थों मे रहता है। किसी व्यक्ति का द्रव्य मकान, जमीन, जेवर में रहता है और किसी का सामाजिक ख्याति के रूप मे रहता है। इस प्रकार के द्रव्य का ज्ञान इन धनवान और कीर्तिवान लोगों का आत्म-विश्वास बढ़ाते हैं। सूक्ष्मबुद्धि के लोग अपने द्रव्य का संचय ठोस विचारों और अभ्यास के रूप मे करते हैं। जिस मनुष्य ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर जितना अधिक सोचा है और इस प्रकार के विचार के परिणाम स्वरूप मौलिक

सिद्धान्त बना लिए हैं वह उतना ही अधिक धनी है। बुद्ध, कबीर, नानक, और ईसा के पास भौतिक धन नहीं था परन्तु न केवल इनके जीवन काल में वरन् उनके मर जाने के बाद भी उनका आज आदर उनके विचार-धन के कारण होता है। भौतिक धन देने से कम होता है, परन्तु विचार धन देने से बढ़ता है। इसी कारण भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को जब धर्म-दीक्षा देकर बाहर भेजा तो कहा इसे अनेक लोगों के हित के लिए देश-विदेश में फैलाओ और कोई भी दो शिष्य एक ही दिशा में मत जाना। सद्विचार जितना अधिक फैलता है वह उतना अधिक प्रभावकारी भी बनता है। इसका रखना भला है और देना भी भला है।

विचार से अधिक मौलिक धन अभ्यास है। यही मनुष्य का सबसे कीमती धन है। संसार को विचार देने वाले लोगों की कमी नहीं है, परन्तु उस विचार पर आचरण कर सकने की क्षमता स्वयं विचार देने वालों में नहीं रहती। अतएव ऐसे विचार की कोई कीमत नहीं करता। जो व्यक्ति दया का गुणगान करे और स्वयं निर्दय हो, जो अयाचना का गुणगान करे और स्वयं दूसरों से माँगता फिरे और अक्रोध और अहिंसा पर लेख लिखे और स्वयं अपनी स्वार्थ रक्षा के लिए, दूसरे के विनाश के लिए उतारू हो जाय उससे ये गुण कौन सीखेगा! यदि हम किसी गुण को दूसरों से कहते है परन्तु उसे अपने जीवन में नहीं बरतते तो हम वास्तव में उसके प्रति दूसरों का विश्वास घटा देते हैं। इस प्रकार के व्यवहार का अर्थ है कि हम उन्हें वास्तव में मूल्यवान नहीं समझते। मनुष्य की पंडिताई अधिकतर उसके अभिमान को फुलाती है उसके आत्म-विश्वास को नहीं बढ़ाती। आत्म-विश्वास की वृद्धि अभ्यास से आती है। सभी प्रकार का संयम मनुष्य के आत्म-विश्वास को बढाता है। भगवान् बुद्ध ने अपने एक शिष्य को मरते समय धर्म का मर्म "संयम" केवल एक शब्द में बताया। यह शब्द उनका आखिरी धर्म-उपदेश था। नियमित संयम है। यही धर्म है। यही आत्म-विश्वास को बढ़ाता है। जिस मनुष्य के जीवन मे जितना ही अधिक संयम होता है उसका आत्म-विश्वास भी उतना ही अधिक रहता है।

धर्म का सच्चा हेतु आभ्यान्तरिक धन की वृद्धि है। साधारण लोग बाहरी धन को बढ़ाते हैं और ज्ञानी लोग भीतरी धन को। धर्म मन को वश में करने का उपाय है। जिस धर्म में जितनी ही अधिक संयम की बातें सिखाई जाती हैं वह मानव समाज का उतना ही अधिक हित करता है। संयम धीरे धीरे प्राप्त होता है। संयम स्वयं मौलिक वस्तु है अतएव इसको केवल दूसरों

को सिखाने निमित्त ही प्रकाशित करना उचित है। जब संयम को समाज में प्रकाशित किया जाने लगता है तो वह ढोंग बन जाता है। जिस प्रकार संयम से मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ता है ढोंग से उतना ही वह घट जाता है। प्रदर्शन की मनोवृति समाज द्वारा सत्कार पाने की भावना से उत्पन्न होती है। वह अपने संयम का भुगतान पा लेता है। उतना ही नहीं, जब समाज हमें अपना वास्तविक मौलिक सम्मान देने लगता है, तो वह हमारे अभिमान को बढ़ाकर हमारा विनाश कर डालने में सहायता देता है। अत्यधिक सम्मान से मनुष्य की आत्म निरीक्षण की मनोवृत्ति नष्ट हो जाती है, वह सम्मानित बने रहने के लिए ही फिर काम करने लगता है। इस प्रकार वह स्वावलम्बी न बनकर परावलम्बी बन जाता है और सच्चे आत्म-विश्वास को खो देता है।

कोरी आदर्शवादिता

जिस मनुष्य के जीवन में आदर्श नहीं, जिस राष्ट्र के समक्ष योग्य आदर्श नहीं वह उन्नतशील नहीं होता। जीवन का अर्थ ही आदर्श की प्राप्ति में है। मनुष्य का विचार उसकी क्रिया का जनक होता है। मनुष्य जो सोचता है जिसकी कल्पना करता है उसके अनुसार उसकी क्रियायें अनायास होने लगती है।

मनुष्य के जीवन में आदर्श होना अच्छा है और अनिवार्य है। परन्तु हमारे आदर्श व्यवहार्य होने चाहिये। जब मनुष्य में आदर्शवादिता अत्यधिक बढ़ जाती है तो उससे व्यवहारिक जीवन में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। व्यवहार तथा आदर्श का सम्पर्क ऐसी अवस्था में छूट जाता है। फिर मनुष्य विचारों में एक प्रकार का होता है और क्रिया में दूसरे प्रकार का। अपने इस प्रकार के जीवन को सही सिद्ध करने के लिए फिर मनुष्य एक विशेष प्रकार के दर्शन की रचना कर लेता है। मनुष्य के दर्शन उसकी मानसिक बनावट के परिणाम होते हैं और यह मानसिक बनावट जीवन की क्रियायों से प्रभावित होती है। भारतवर्ष के कुछ दार्शनिकों के जीवन को देखे तो हम उनके आदर्श और व्यवहार मे जमीन-आसमान का अन्तर पावेंगे। ऐसे जीवन को सही सिद्ध करने के लिए मायावाद का दर्शन बड़ा रुचिकर लगता है। हमारे पंडितों ने व्यवहार सत्य तथा, परमार्थ सत्य दो प्रकार के पत्यों का निश्चय किया है, तथा बताया है कि दोनों में कोई सम्पर्क होने की आवश्यकता नहीं। जगत माया है, मिथ्य है। अतएव इसमें जो कुछ हम करना चाहते हैं करें, इससे कोई परमार्थ को धक्का नहीं लगता। इस प्रकार का विचार मनुष्य तथा राष्ट्र के चरित्र का विनाशक होता है।

एक बार हमारे देश के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि संसार का ऐसा कोई देश नहीं है जिसके आदर्श भारत के समान ऊँचे हों और न कोई दूसरा ऐसा देश है जिसका व्यवहार भारतवर्ष ऐसा नीचा हो। इंगलैंड के परराष्ट्र मंत्री श्री बेविन ने हमारे नेता की बात को उद्धृत करके भारतवर्ष के निकम्मेपन की कुछ चर्चा की थी। यदि हमारे नेता इस बात को पहचान गए हैं कि हमारे आदर्श और व्यवहार में कोई सम्पर्क नहीं तो हमे इस स्थिति को भयानकी मानना चाहिए। जब मनुष्य का आदर्श और व्यवहार से सम्पर्क छूट जाता है तब वह अपने व्यक्तित्व की शक्ति खो देता है। निर्वाजित व्यक्तित्व में चरित्र नहीं रहता। जब मनुष्य में चरित्र नहीं रहता तब वह अपनी अन्य प्रकार की उन्नति को खो देता है।

मानसिक प्रयोगों से पता चला है कि अनेक प्रकार के मानसिक रोगों (अकारण भय, चिन्ता, नैराश्य और झूठी शारीरिक बिमारी) से परेशान

वही लोग होते हैं जिनके जीवन के आदर्श व्यवहार से सम्बन्ध नहीं रखते। व्यावहारिक आवश्यकताओं की जो लोग अवहेलना करते हैं और इनके सामने आने पर दमनात्मक उपायों का प्रयोग करते हैं, वही मानसिक रोग के भागी होते हैं। ऐसे लोगों के बड़े बड़े मनसूबे व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

भारतवर्ष आज भी आदर्श परायण है। मनुष्य की आदर्शवादिता कभी कभी उसके निकम्मेपन का एक आवरण मात्र होती है। यदि दस-पांच चोर सशस्त्र हमारे घर में घुस जाय तो हमें दयाशील बनने के अतिरिक्त चारा ही क्या रह जाता है? अब यदि हम इस डरपोक की मानसिक स्थिति को भली प्रकार समझ सकें तो इसमें बुरा ही क्या है। हम अपने आपको कोसने से तो बचेंगे। जो काम मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता उस काम को करने में वह दोष खोज लेता है।

आज हमारे सामने देश के नवयुवकों की बेकारी का प्रश्न है। यह प्रश्न भारत के उद्योगी-करण के बिना हल नहीं हो सकता। हमारे देश के कुछ नेता भारतवर्ष में वैज्ञानिक नवीनतम साधनों के द्वारा उद्योगों की वृद्धि नहीं चाहते, क्यों कि इससे मशीन काम में आयेगी और बेकारी बढ़ेगी। आज हम आजसे दो हजार वर्ष पहले के साधनों से सपूरित राष्ट्र को रोजी देना चाहते हैं और राष्ट्र का धन बढ़ाना चाहते हैं।

हमारी इस प्रकार की मनोवृति पंचवर्षीय योजना में काम कर रही है। कहीं २ इस भावना की अवहेलना भी होती है, परन्तु वह मूल दर्शन के रूप में। हमारी सभी योजनाओं में राष्ट्र के उद्योगीकरण की चेष्टा की जाती है परन्तु वैज्ञानिक साधनों की अवहेलना करते हुए। आज उद्योगी करण का अर्थ ही व्यक्तिगत-व्यवसाय द्वारा अजीविका प्राप्त करना बन गया है। हमारी सरकार ग्राम उद्योगों का पुनरुद्धार करना चाहती है। परन्तु जब भी ग्रामोद्योगों की वृद्धि वैज्ञानिक ढंग से सोची जाएगी, वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करना अनिवार्य होगा? परन्तु विज्ञान और कल कारखानों की वृद्धि का हमें डर लगा हुआ है। किसी योजना का क्या परिणाम हो सकता है यह स्पष्ट ही है।

आज हमारे नवयुवक चिल्लाते हैं कि हमें रोजगार दो। उन्हें पंचवर्षीय योजना द्वारा कौन सा रोजगार दिया जा सकता है? नवयुवकों की बेकारी का दोष शिक्षा के मत्थे मढ़ा जाता है। शिक्षा मनुष्य के हौसले बढ़ा देती है और नवयुवकों को सामान्य ग्रामीण जीवन से सतुष्ट नहीं रहने देती। अब हमारे नेता नवयुवकों को ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं, जिससे वे दो घंटे चरखा चलाकर आठ घंटे खेत जोत कर अथवा करघा चला कर अपनी आजीविका कमावें और

शहर के भव्य भवनों में रहने का स्वप्न छोड़ दें। विश्वविद्यालयों की शिक्षा राष्ट्र के कुछ इनेगिने लोगों के लिए उचित है, जो राज्य का काम काज चलाते रहेंगे। अधिक लोगों की शिक्षा दिहाती वेसिक-स्कूल में ही समाप्त हो जानी चाहिए। मनुष्य अल्प संतोषी बने, अपनी इच्छाओं को कावू में रखे यही हमारी नयी शिक्षा योजना है।

परन्तु विचारसे यह हमारी कोरी आदर्श वादिता है। किसी भी व्यक्ति की प्रकृति तवतक मौन नहीं लेने देती जवतक की वह अपना अधिक से अधिक विकास नहीं कर लेता। मनुष्य को तत्व ज्ञान और आन्तरिक शान्ति इच्छाओं के दमन से नहीं प्राप्त होती। इच्छाओं के उत्पन्न होने से मनुष्य को, निराशा वादिता और अनेक प्रकार के मानसिक रोग प्राप्त होते हैं। इच्छा के दमन से ही मनुष्य के आदर्श और व्यवहार में विषमता उत्पन्न होती है और उसे अनायास ही ऐसे काम करने पड़ते हैं जिन्हें देखकर वह स्वयं विस्मृत हो जाता है।

भारतवर्ष भले ही विज्ञान की अवहेलना करे संसार के दूसरे देश तो इसका उपयोग ही करेंगे। विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य का वौद्धिक विकास होता है और उसके उपयोग से देश का धन वढ़ता है। इस धन का मनुष्य सदुपयोग अथवा दुरुपयोग कर सकता है। परन्तु धन पैदा करने वाले लोग धनहीन व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छे ही होते हैं। विज्ञान के अभाव में बुद्धि का विकास ही नहीं होगा। बुद्धि के विकास के अभाव में देश के लोगों में न तो वह सामर्थ्य होगी और न सूझ जिससे कि वे परदेशी वाहरी आक्रमण का सामना कर सकें।

भारतवर्ष की पुरानी परम्परा है कि वह अपनी पुरानी रूढ़ियों को नहीं छोड़ना चाहता। यहाँ की सामाजिक परम्परा आज हमारी उन्नति की पोषक न वनकर विनाशक वन गई है। हमारे देश में अछूतों की उपस्थिति और पाकिस्तान का निर्माण इसीलिए हुआ कि समय के अनुसार हम अपने को परिवर्तित नहीं कर सके। जब लड़ाई में हाथी वेकार हो चुके थे हम उनका ही उपयोग विदेशियों का सामना करने में करते थे। वावर के साथियों ने राणा संग्राम सिंह से लड़ने में वन्दूक और तोपों का उपयोग किया और हमारे राजपूत वीर घुड़ सवार हाथ में भाला लिए तोप के मुँह में घुस गए। क्या कोई विज्ञान की अवहेलना करके कोरी वीरता से ही जीवन के संघर्ष में सफल हो सकता है? अभी भी आशा है कि हम आदर्श और व्यवहार का समन्वय स्थापित करने में उद्योग शील वन जाएँ और अपनी योजनाओं को इस प्रकार

सुगठित बनावें, जिससे कि हम आधुनिक-विज्ञान से अपनी उन्नति में अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। तभी हम अपने प्रतिभावान नवयुवकों को उनकी योग्यता के अनुसार व्यवसाय दे सकेंगे।

हम एक ओर अमेरिका की भौतिक वृद्धि को लानत की निगाह से देखते हैं और दूसरी ओर उसकी अधिक सहायता के भी इच्छुक रहते हैं। ऐसी अवस्था में जब हम ग्रामीण-उद्योगों की वृद्धि की बात करते हैं, तो क्या हमारे अन्तर मन में "अंगूर खट्टे हैं" की मनोवृति काम नहीं करती ?

हमारे देश के शासक और मन्त्री अपनी संतान को फ्रान्स, इंग्लैन्ड, अमेरिका अच्छी शिक्षा पाने के लिए भेजते हैं और देहात की जनता को बुनियादी तालीम के स्कूलों का दरवाजा बताते हैं। क्या इस प्रकार का व्यवहार देश के होनहार नवयुवकों के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करना-है ? यदि हम सच्चे देश भक्त होते तो हम सामान्य जनता के लिए भी वही चाहते जो हम अपने बाल-बच्चों के लिए चाहते हैं। इस कोरी आदर्शवादिता को छोड़ें। यदि ऐसा नहीं करते तो नवयुवक स्वयं अच्छा मार्ग खोज लेंगे और यह मार्ग सम्भव है सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में न हो।

मनोविज्ञान और योग

दिनांक १८ अप्रैल १९५४ ई०

योग मानसिक-शान्ति प्राप्त करने का सर्वोत्तम-मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति में एक व्यापक आत्म-तत्व समाविष्ट है जिसकी उपस्थिति स्थूलत व्यष्टि रूप में है। इसी व्यापक आत्म-तत्व का समष्टि में समाविष्ट कर देना ही योग का लक्ष्य है। इस लक्ष्य-प्राप्ति के उपरान्त व्यक्ति की स्थिति शून्य हो जाती है। यही शून्यता आत्म-साक्षात्कार की अन्तिम सरणि है। इच्छाओं के समुच्चय का नाम व्यष्टि है। जब तक इच्छाएँ नहीं समाप्त होतीं, व्यक्ति व्यष्टियों से समष्टि की ओर नहीं जा सकता। इच्छाओं की आधारशिला पर ही व्यक्ति का स्वत्व स्थित है। मनोविज्ञान के अभाव से योग अयोग्य और हानिप्रद हो जाता है। योग और मनोविज्ञान के सामञ्जस्य से ही मनुष्य जाति परम-शान्ति प्राप्त कर सकती है।

भारतीय दर्शन परम्परा में योग के 'ज्ञान' 'भक्ति' और 'कर्म' तीन प्रमुख पथ बताये गये हैं। इच्छा और दुःख एक दूसरे के पूरक हैं, अत ज्ञान द्वारा योगी अपनी बाह्याभ्यान्तरिक इच्छाओं को जानकर उनकी समाप्ति का प्रयत्न करता है। क्राइस्ट तथा बुद्ध ने ससार को इसी मार्ग का ज्ञान कराया है। भक्तियोग में साधक अपनी सारी इच्छाओं को अपने उपास्य के लिए समाप्त कर देता है। जन-कल्याण तथा अनेकानेक मानवी गुणों को मिला कर भक्त अपने भगवान की कल्पना करता है। अपने भगवान की ही इच्छाएँ उसकी इच्छाएँ बन जाती हैं; और इस प्रकार वह व्यापक आत्मतत्व को समष्टि में मिला परम-सत्य प्राप्त करता है। कर्मयोग मे निष्काम-कर्मशीलता की ओर ही प्रमुख ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार की कर्मशीलता मे इच्छाएँ जन्म ही नहीं लेती और साधक परम-तत्व प्राप्त करता है। परन्तु योग इस प्रकार पूर्णतया सफल नहीं हो जाता, उसमे अभाव रह जाता है। इस प्रकार का योग मनुष्य के लिये पागलपन की वस्तु तब तक बना रहता है, जब तक वह इच्छाओं की समाप्ति का समुचित नियम तथा विधि न प्राप्त कर ले।

इच्छाओं की समाप्ति तथा शान्ति प्राप्ति के भी अपने यहाँ दो मार्ग बताये गये हैं। पहला मार्ग जो हिन्दू दर्शन द्वारा प्रतिपादित है, कहता है 'शान्ति के आवाहन तथा ध्यान करने मात्र से ही इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं'। बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित दूसरा मार्ग कहता है कि इच्छाओं के दमन से स्वयम् शान्ति आ जाती है। परन्तु दोनों मार्ग मनोविज्ञान के इच्छा-सम्बन्धी अध्ययन से दूर रहने के कारण अपूर्ण हैं। योग कौन कर सकता है, यह मनोविज्ञान का

विषय है। वह मार्ग सुनने में जितना ही सरल है चलने में उतना ही कंटकाकीर्ण है। योगी सफल होने पर अनन्त परम-तत्व को प्राप्त करता है, परन्तु असफल होने पर उस गर्त में जा गिरता है, जहाँ उसकी हड्डियाँ भी नहीं मिलती। आज पागलखानों में पाये जाने वाले पागलों में से ७०% प्रतिशत कभी योग-साधक थे अतः अनाधिकारी व्यक्तियों को योग-साधन का उपक्रम कभी नहीं करना चाहिए।

मनोविज्ञान योग के अभाव में निरुद्देश्य सिद्ध होता है। उसका लक्ष्य केवल उपयोग तक ही सीमित रहता है। योग भी मनोविज्ञान के अभाव में असफल तथा अपूर्ण है। मनोविज्ञान के मन-विषयक अध्ययन से अपरिचित योगी, वाह्य रूप से इन्द्रिय-निग्रह तथा इच्छाओं को समाप्त करने का असफल प्रयास करता है। वे इच्छाएँ, जिन्हे योगी दमित करता है, उसके अचेतन में चली जाती हैं, और वहाँ पहले की अपेक्षा अधिक घातक सिद्ध होती है। वह ऊपर से जितना ही आदर्श बनने की चेष्टा करता, अन्दर उसका व्यक्तित्व उतना ही विकृत रूप धारण करता जाता है। दमित इच्छाएँ अचेतन मे जाकर अनेकों मानसिक तथा शारीरिक रोगों के रूप में प्रकट होती हैं।

योग का क्षेत्र सामान्य जीवन से अलग नहीं होता। विद्यार्थी का योग विद्याध्ययन ही हो सकता है। धनोपार्जन करते हुए भी व्यक्ति योगी हो सकता है। प्रयासों में असफल होने पर कर्म के लिए बद्धपरिकर रहना ही वास्तविक योग है। अपने क्षेत्र से विचलित होकर अन्य प्रकार का योग साधन करना विनाश को निमन्त्रण देना है। श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि 'सबको सब में लगाये रहो, और स्वयम् भी अपने मे लगे रहो।' संसार से अलग होकर योग साधन करना तो श्मशान वैराग्य तथा घातक है। प्रत्येक कार्य से परम-तत्व की प्राप्ति हो सकती है। परम-तत्व की प्राप्ति किसी कार्य विशेष की मुखापेक्षिणी नहीं है, प्रत्युत वह अपना ध्यान इच्छाओं के समाप्ति की ओर ही रखती है। पुराणों में सदन कसाई की अपने पैतृक व्यवसाय द्वारा ही परमतत्व प्राप्त करने की कथा मिलती है। इच्छाओं की समाप्ति का अभिप्राय उनके दमन से नहीं है। इच्छाओं का दमन तो मन को विभाजित कर देता है। दमन से व्यक्तित्व के दो रूप हो जाते हैं; एक मे वह मनुष्य महात्मा तथा दूसरी ओर वासना-लिप्त भोगी हो जाता है। व्यक्तित्व का यही विभाजन रोगों का मूल है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, योग साधन के लिये जीवन की किसी विशेष परिस्थिति में जाने की आवश्यकता नहीं है। पारिवारिक जीवन में भी यह सम्भव है। इस सम्बन्ध मे स्वामी रामतीर्थ ने एक अत्यन्त ही मनोरंजक उदाहरण

दिया है। 'एक घुड़सवार एक दिन दोपहरी में कहीं जा रहा था। उसका घोड़ा प्यासा था। रास्ते में एक चलता रहट देखकर घुड़सवार रुक गया। पनाले से घोड़ा इसलिये पानी नहीं पी पाता था कि रहँट की चूँ-चूँ आवाज से वह भड़क जाता था। निदान, घुड़सवार ने रहँट वाले से रहँट रोक देने को कहा। रहँट के रुकते ही सारा पानी बह गया और पनाली खाली हो गई। घोड़ा फिर भी पानी नहीं पी सका। घुड़सवार के पूछने पर रहँट वाले ने कहा कि आप अपने घोड़े को निकलती आवाज में भी पानी पी लेने का अभ्यस्त बनावें।" इसी प्रकार हमें भी अपने को गृहस्थ जीवन में ही संसार के सभी कार्यों को करते हुए योगी बनने की आवश्यकता है। इन्द्रिय-दमन से कुछ नहीं होता। परम-तत्व की प्राप्ति तो परम-स्थिति का परिणाम है। इच्छाओं के समाप्त हो जाने मात्र से मन का सारा द्वैत समाप्त हो जाता है।

ऊपरी मन की इच्छाओं की समाप्ति सीधे करना क्लिष्ट तथा घातक है। इच्छाओं के आकस्मिकनिरोध से मानसिक-आत्महत्या हो जाती है। अकेले योग में मानसिक आत्महत्या की ही स्थिति सम्भव है। परन्तु मनोविज्ञान मानसिक आत्महत्या नहीं अपितु आत्म-विकास का मार्ग बताता है। आत्म-विकास से ही योग में सफलता प्राप्त हो सकती है। अल्पकाल में ही इच्छाओं को समाप्त करने का प्रयास मूर्खता है। योगी-पुरुष को चाहिये कि वह अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं को पहले क्रमशः समाप्त करे। छोटी इच्छाओं के समाप्त करने का अर्थ उनका दमन नहीं है, अपितु उनके समाप्त होने के उनके अपने प्राकृतिक मार्ग हैं। इनकी समाप्ति भोग, विचार तथा कल्पना आदि मार्गों से होती है। केवल चेतन मन से बार-बार इच्छाओं को निकालने का प्रयास या अप्राकृतिक मार्गों का अपनाना ही इच्छाओं के दमन का प्रयास है। जो इच्छा जिस मार्ग से समाप्त हो जाय, उसके लिए वही मार्ग अपनाना उचित है अन्यथा इच्छाएँ चेतन से अचेतन मन में चली जाती है। च्यवन ऋषि ने वृद्धावस्था में विवाह कर काम-वासना का दमन किया। सच्चे योगियों के यही लक्षण होते हैं। अतृप्त इच्छाओं के दमन से दमा, हिस्टीरिया, एक्जमा तथा आँख के अनेकों रोग होते हैं।

बाहरी मन से व्यभिचारी होना उतना घातक नहीं है, जितना आन्तरिक मन से। बाहरी व्यभिचार समाज के दण्ड के भय से छूट जाते हैं; परन्तु आन्तरिक व्यभिचारों का फल मनुष्य अत्यन्त ही बुरी तरह भोगता है। इच्छाओं का दमन करके महात्मापन दिखाने वाले व्यक्ति अपने आन्तरिक व्यभिचारों से अपनी ही हानि नहीं करते, अपितु सारे समाज के लिये हानिप्रद सिद्ध होते हैं। स्वयम्

ऐसे व्यक्ति आत्म विश्वास खो कर निराशावादी हो जाते हैं। इच्छाओं के दमन कारी व्यक्ति ढोंगी कहलाते हैं। अपना आन्तरिक ढोंग ही बाह्य-विश्व पर आरोपित हो जाता है। अपने भीतरी तथा बाहरी मन के संघर्ष का रूप मनुष्य को बाहरी जगत में भी दिखाई देता है। आज हमारे देश की ठीक यही दशा है। पथ-प्रदर्शकों की आन्तरिक बुराइयों की छूट सारे समाज को लग गई है। इस प्रकार सारे देश का मस्तिष्क संक्रमित हो गया है। पिछले दिनों बाह्य संयम अर्थात् भोजन, वस्त्र तथा जीवन स्तर की अन्य आवश्यकताओं में बहुत सीमा तक संकुचित आदर्शवादी दृष्टिकोण रख कर चेतन मन की इच्छाओं के दमन का प्रयत्न किया गया। राष्ट्र की चेतन इच्छाएँ उसके अचेतन में चली गईं, और राष्ट्रीय मानसिक रोग ने जन्म लिया। हमें अपनी सर्वोच्चता तथा स्वाधीनता पर मिथ्याभिमान है। हम संसार को नयी ज्योति तथा नवीन पथ देने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, जो पागलपन के अनर्गल प्रलाप के सिवा और कुछ नहीं है। मनोविज्ञान के ज्ञान की कमी के ही कारण योग यहाँ असफल हुआ है।

योग का अर्थ इच्छाओं का दमन नहीं, प्रत्युत उन्हें जानकर किसी उचित प्राकृतिक मार्ग से समाप्त कर देना है। मनोविश्लेषण में रोगी की आत्मकथा का अध्ययन इसी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होता है। यदि चिकित्सक तथा रोगी में पूर्ण प्रेमभाव स्थापित हो जाय तो कभी-कभी रोग एक ही दिन में समाप्त हो जाता है, परन्तु कभी-कभी तो इस दिशा में वर्षों कोई सुधार नहीं होता। मनुष्य किसी के समक्ष प्रायः नंगा नहीं खड़ा होना चाहता, इससे भी तो कठिन आन्तरिक मन से नंगा हो जाना है। परन्तु मन से नंगा हो जाने के बाद ही मनुष्य की सारी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं। रोगी को चिकित्सक द्वारा अपनी सारी दमित इच्छाओं का ज्ञान होता है। परन्तु सामान्य पुरुषों को यह ज्ञान 'गुरु' द्वारा प्राप्त होता है। गुरु और चिकित्सक में अन्तर है। गुरु रोगों की जड़ खोज निकालता है और चिकित्सक एक दो रोगों की चिकित्सा करता है। गुरु के ज्ञान द्वारा व्यक्ति स्वावलम्बी होता है, और चिकित्सक द्वारा परावलम्बी। शिष्य को 'स्व' ज्ञान करा देने वाला गुरु ही वास्तविक 'गुरु' है।

भगवान बुद्ध ने योग द्वारा ही इच्छाओं का ज्ञान प्राप्त किया और योग द्वारा ही उनको समाप्त किया। मनुष्य का परम पुरुषार्थ इच्छाओं का वश में करना ही है। जानी हुई इच्छाओं को मनुष्य सरलता पूर्वक वश में कर सकता है। अनजानी इच्छाएँ जो अचेतन में निवास बना लेती हैं, मनुष्य चर्म चक्षुओं से उन्हें नहीं देख सकता और न किसी प्रकार भी उनकी उपस्थिति का अनुमान ही कर सकता है। ऐसी अनजानी इच्छाओं को वश में करना अत्यन्त ही क्लिष्टकर

है; परम पुरुषार्थ भी अनजानी इच्छाओं की समाप्ति में ही है। बाह्य इच्छाओं को वश में करने वाले व्यक्ति आत्मज्ञान बड़ी कठिनाई में कर पाते हैं; क्योंकि उन्हें अहंकार होता है। बाह्य इच्छाओं को वश में करने के प्रयत्न अप्राकृतिक होते हैं; इस प्रकार के दमन से इच्छाएँ अचेतन मन में चली जाती हैं, और अहंकार का रूप धारण कर लेती हैं। अपने देश के पथ-प्रदर्शकों के साथ भी कुछ ऐसी ही बातें हुई हैं। ऐसे व्यक्ति जो अहंकारी हैं, कभी न तो स्वयम् शान्ति प्राप्त कर सकते हैं न दूसरों को शान्ति से रहने देते हैं। अहंकार के त्याग से ही परम सत्य की प्राप्ति हो सकती है।

मनोविज्ञान द्वारा सामान्य रोगों की ही चिकित्सा होती है, परन्तु योग भवरोग की परम औषधि है। आत्मसंयम तथा सहभावना द्वारा ही योग-साधनमे सफलता मिल सकती है। योग-साधना मे सफलता के अतिरिक्त इन दोनों गुणो से विचारों में दृढ़ता आती है। विचार ही आधुनिक युग के श्रुति तथा स्मृति हैं। युगधारा के अनुकूल विचारों में व्यापकता तथा प्रान्जलता की आवश्यकता अधिक मात्रा मे है। विचारो की व्यापकता तथा प्रान्जलता द्वारा ही राष्ट्रीय मस्तिष्क की भी चिकित्सा हो सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने योग को वैज्ञानिक रूप दे दिया है। अब योग पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण से है। योग मनोविज्ञान से मिलकर मानव गति का विशेष उपकार कर सकता है। इससे राष्ट्रीय तनातनी की कमी होगी और देश उच्चस्तर पर आ सकेगा। योग द्वारा मनोविज्ञान को मिलाकर हम अपने चेतन और अचेतन मन की इच्छाओं को निकाल कर परम-शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। आज सभी को योगी बनने की आवश्यकता है। एक क्षेत्र क्या प्रान्त में अकेला योगी वहाँ के निवासियों को प्रकाश देता है, लेकिन जहाँ का समाज ही योगी होगा, वहाँ की धरती ही स्वर्ग बन जायेगी।

मानसिक चिकित्सा से रोगों का निवारण

१ अगस्त माह में एक दिन रात्रि के समय नींद खुलने के बाद ऐसा मालूम हुआ कि मेरे हृदय की गति रुक जायगी और अब मैं नहीं बचूँगा। घबड़ाहट बढ़ने लगी। कुछ देर बाद मैं घर के बाहर गया और एक आदमी से अपना सारा हाल सुना दिया और उनको डाक्टर के पास चलने को कहा। परन्तु उन्होंने मुझे प्रोत्साहन देना शुरू किया। इससे मुझे कोई लाभ नहीं हुआ। सुबह होते ही मैं डाक्टर के पास गया परन्तु डाक्टर की दवा से मुझे कोई लाभ नहीं हुआ। घर से बनारस आने पर हृदय की धड़कन बढ़ गई। इसके साथ-साथ मुझे कुष्ठ रोग का भी भय होने लगा। शरीर में कहीं भी सफेद दाग देख लेता था तो मुझे डर लगता था कि अब मुझे कुष्ठ रोग हो जाएगा। इस रोग की चर्चा बहुत दिनों तक मैंने किसी से भी नहीं की थी। हृदय-रोग की दवा कई डाक्टरों से कराता परन्तु मुझे कोई विशेष लाभ न हुआ। लाभ जो थोड़ा बहुत था वह नाम मात्र का था। डाक्टरी दवा से जब कोई लाभ न हुआ तो दवा कराना ही छोड़ दिया।

यह रोग मुझे अधिक दिन से नहीं था। यह रोग मुझे इसी वर्ष शुरू हुआ है। रोग में परिवर्त्तन थोड़ा-बहुत उस समय हुआ जब मैं सोचने लगा कि यह मानसिक रोग है और मानसिक चिकित्सा कराने से ही ठीक होगा। पहले रोग का कारण मुझे शारीरिक मालूम पड़ता था। मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि मेरे हृदय में कोई खराबी है।

इस रोग का मेरे जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। मैं चिन्ता से बहुत अधिक दुबला हो गया था और मुझे जीवन में निराशा ही निराशा दिखाई देने लगी थी। मनमें शान्ति नहीं थी। माता का रुख मेरे प्रति अच्छा था और मुझे माता जी खूब प्यार करती थीं, पर पिता जी मुझको प्यार नहीं करते थे और मेरे साथ कड़ाई का व्यवहार करते थे। इन सब कारणों से पिता जी के प्रति मेरा भी रुख अच्छा नहीं था और मैं उनको देखकर जला करता था।

२ मैंने अपने कुछ मित्रों द्वारा काशी-मनोविज्ञानशाला की प्रशंसा सुनी। मुझे मालूम हुआ कि इसी शाला में मानसिक रोगियों की चिकित्सा होती है और बहुत से मानसिक रोगी यहाँ अच्छे भी हो गये हैं जिन्हें भयानक भयानक रोग थे। शाला की प्रशंसा सुनकर एक दिन मैंने पं० लालजी राम शुक्ल (शाला के सञ्चालक) से बात की। आने के पहले मुझे यह आशा थी कि मनोविज्ञानशाला की चिकित्सा से मेरा रोग दूर हो जायगा। यह बात एकदम ठीक निकली। इस समय मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। मेरे सभी रोग पता नहीं क्या

चित्त की एकाग्रता की शक्ति

मानसिक शक्ति का आधार चित्त की एकाग्रता है। जो मनुष्य जितना ही चित्त को एकाग्र कर सकता है वह उतना ही मानसिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। चित्त की एकाग्रता पर ही मनुष्य की कार्यक्षमता निर्भर करती है। चित्त को एकाग्र करके हम दूसरे लोगों के विश्वासों और विचारों को बदल सकते हैं। मानसिक दृढ़ता चित्त की एकाग्रता में है। जिस मनुष्य में जितनी अधिक मानसिक दृढ़ता रहती है वह उतना ही अपने मत का संसार में प्रचार करने में समर्थ होता है। मानसिक दृढ़ता अथवा इच्छा शक्ति की दृढ़ता का आधार पढ़ना लिखना उतना नहीं है जितना कि स्वतंत्र विचार और ध्यान की एकाग्रता है।

ध्यान की एकाग्रता अपने निश्चय और विश्वास पर निर्भर करती है। जिस मनुष्य का निश्चय दृढ़ नहीं रहता और जिसका विश्वास डॅवाडोल रहता है, उसमें चित्त की एकाग्रता संभव नहीं। निश्चय की दृढ़ता विचार पर अवलंबित रहती है और विश्वास साधना पर। साधना से आन्तरिक मन की ग्रन्थियां नष्ट होती हैं और बारम्बार आध्यात्मिक चिन्तन करने से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है तथा किसी प्रकार का निश्चय दृढ़ होता है। मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति में चित्त चञ्चल रहता है; संदेहात्मक मन रहता है और कोई भी निश्चय दृढ़ नहीं होता। अतएव जो व्यक्ति अपने मन को जितना ही मानसिक ग्रन्थियों से मुक्त करता है, वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति को उतना ही बढ़ाता है। क्योंकि वह अपने मन को उतना ही अधिक एकाग्र करता है।

मानसिक शक्तियों का निराकरण, आत्मनिरीक्षण, आत्मस्वीकृति, सदाचार और मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। इससे अहंकार का विनाश होता है। जिस मनुष्य में जितना कम अहंकार होता है उसका मन उतना ही शांत रहता है। उसकी मानसिक शक्ति उतनी ही अधिक होती है। अहंकार मानसिक शक्तियों का प्रतीक है। इससे चित्त की एकाग्रता नष्ट होती है। अहंकार से अनेक प्रकार की चिंतायें और राग-द्वेष के विचार उत्पन्न होते हैं। इससे मान-अपमान का विचार आ जाता है। अतः मनुष्य सत्य, दर्शन से वंचित रह जाता है।

चित्त की एकाग्रता मानसिक तथा शारीरिक रोगों को नष्ट करने के काम में लाई जा सकती है। रोगों की चिकित्सा में ही प्रत्यक्ष फल देखा जाता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाय और उसे यदि किसी प्रकार यह निश्चय करा दिया जाय कि उसका रोग अच्छा हो रहा है, तो उसका रोग अच्छा हो जाता है। अपने शरीर में किसी प्रकार का रोग हो जाने पर यदि हम चुपचाप बैठकर यह विचार करें कि वह रोग अच्छा हो रहा है, तो कुछ काल के बाद वह रोग नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार का विचार देर तक ठहरना कठिन होता हैं क्योंकि हमें अपने विचार की शक्ति मे सदेह उत्पन्न हो जाता है। इस सदेह का कारण हमारे मन की मानसिक ग्रन्थियाँ हैं। जब इन ग्रन्थियो का निराकरण होता है तभी हमारा विचार स्थिर होता है। और हम एक मन से सोचते रहते हैं कि हमारा रोग अवश्य नष्ट हो जावेगा।

जिस प्रकार अपने रोग को नष्ट करने मे संदेह बाधक होता है उसी प्रकार दूसरे लोगों के रोग दूर करने मे भी संदेह बाधक होता है। पहले तो रोगी के मन मे ही अनेक प्रकार की मानसिक ग्रंथियाँ होती हैं जिनके कारण उस पर चिकित्सक का कोई भला प्रभाव नहीं पड़ता। उसे चिकित्सक के प्रति संदेह रहता है और दूसरे चिकित्सक को स्वयं अपनी शक्ति में संदेह रहता है। ऐसी अवस्था में रोगी का निर्देश के द्वारा रोग से मुक्त होना कठिन हो जाता है। रोगी को लाभ होने के लिए यह आवश्यक है कि पहले स्वयं चिकित्सक को अपनी शक्ति में विश्वास हो और दूसरे रोगी को अपार श्रद्धा हो। जब चिकित्सक का रोगी के हृदय पर अधिकार रहता है तब रोगी को भारी लाभ होता है।

रोगी को निर्देश-विधि से किसी प्रकार का लाभ पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि चिकित्सा के कार्य को गुप्त रखा जाय। जितना अधिक इसका प्रचार होता है उतने ही अधिक तर्क-वितर्क रोगी के मन में उठते हैं। इस तर्क-वितर्क के कारण रोगी के मन की एकाग्रता नष्ट हो जाती है। इसका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। तथा उसे कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार रोगी से अधिक बातचीत करने से भी उसकी श्रद्धा चिकित्सक पर से उठ जाती है। और उसे लाभ होना कठिन हो जाता है।

अधिक प्रचार से स्वयं चिकित्सक की अपनी विधि के ऊपर से श्रद्धा चली जाती है। उसे अनेक प्रकार के संदेह उत्पन्न होने लगते हैं। और फिर रोगियो का उससे लाभ उठाना कठिन हो जाता है। लेखक के एक छात्र को साप झाड़ने

का मंत्र मालूम था। एक बार उसके एक तर्क-वितर्क करने वाले शिक्षक ने उस मंत्र के बारे मे उससे बहस की। उसके बाद उसके मंत्र के द्वारा किसी व्यक्ति को लाभ पहुँचना असम्भव हो गया। उसके मंत्र की शक्ति ही जाती रही। मानसिक शक्ति आश्चर्यकारक है। हम नहीं जानते कि हमारे मन मे कितनी शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों को हम तभी तक रखते हैं जब तक कि हम उनका अभ्यास करते हैं और उनमें विश्वास करते हैं। सदेह की अवस्था मे शक्तियाँ नष्ट हो जाती है।

जब मनुष्य के चेतन और अचेतन मन मे एकता रहती, तो मनुष्य का अचेतन मन वही काम करने लगता है जो उसका चेतन मन चाहता है। जब मनुष्य को दोनों मन मे द्वन्द्व रहता है तब चेतन मन की भावना के प्रतिकूल अचेतन मन कार्य करता है। जब चेतन और अचेतन मन मिलकर किसी कार्य को करते हैं तब उसमे सफलता मिलती है अन्यथा असफलता। मनुष्य की भावनाएँ तभी फलीभूत होती हैं जब मनुष्य बार-बार अपने निश्चय नहीं बदलता। बार-बार निश्चय के बदलते रहने पर किसी विषय पर चित्त की एकाग्रता नही होती और फल भी अच्छा नहीं होता।

चित्त को एकाग्र करके अपने विचार दूर तक भेजे जा सकते हैं। जिस प्रकार के विचार हम दूसरे व्यक्ति के मन मे लाना चाहते हैं, चित्त की एकाग्रता के द्वारा उसके मन में उठा सकते हैं। जब दो व्यक्तियों के हृदयों की एकता होती है तब एक के विचार दूसरे व्यक्ति को उसके अनजाने ही प्रभावित करते हैं। हृदय की एकाग्रता स्थापित हो जाने पर चित्त एकाग्र करके विचारों को दूसरे व्यक्ति के पास भेजा जा सकता है। इस प्रकार रोगी के मन में आत्म-कल्याण के भाव उठाये जा सकते हैं। यह काम रोगी से बिना बातचीत किए अथवा दूर ही से किया जा सकता है। आत्म-कल्याण के विचारों के उत्पन्न हो जाने पर रोगी का रोग नष्ट हो जाता है।

लेखक के एक मित्र का लड़का एक बार सन्निपात से बिमार पड़ गया। इसके बारे से सूचना मानसिक चिकित्सक को तार के द्वारा दी गयी। चिकित्सक ने उस लड़के की फोटो मँगाई और तार से खबर भेजी थी लड़के का इलाज प्रारम्भ हो गया है। वास्तव में रोगी चार पाच दिन में चगा हो गया। इसका कारण, रोगी के आसपास के लोगो के तथा रोगी के विचार में परिवर्तन हो गया। तार से रोगी व उसके आसपास के लोगों के विचार नकारात्मक से बदल कर सकारात्मक हो गये। इसके अतिरिक्त चिकित्सक की शुभकामनाओं ने भी काम किया। पर जब चिकित्सक के प्रति रोगी की श्रद्धा डर जाती है तो फिर

उसे लाभ नहीं होता। जिस व्यक्ति में स्वार्थभाव का किसी प्रकार संदेह किया जाता है उसके ऊपर से विश्वास उठ जाता है। विश्वास के अभाव में निर्देश विधि से और चित्त की एकाग्रता द्वारा चिकित्सा किया जाना सम्भव नहीं होता।

मनुष्य का मन जब अपने आप में किसी प्रकार की भावना करता है तब वह उसी रूप में बन जाता है। जिस बात की हम अपने आप में सम्भावना देखते हैं उसे हम अपने आप में विकसित पाते हैं। मनुष्य का मन चैतन्य अणु है, यदि जड़ अणु की इतनी शक्ति है कि एक दो अणु बम से शहर को ध्वंश कर डालता है तो फिर चैतन्य अणु की कितनी शक्ति होगी? जो मनुष्य जितनी ही निस्वार्थ भावना से किसी संकल्प को मन में लाता है, वह उसमें उतना ही सफल होता है। स्वार्थभावना ही चित्त की एकाग्रता में विघ्न डालती है। मनुष्य की शक्ति को परिमित करती है।

उत्साह

बुद्ध भगवान का आदेश है कि अच्छे कार्य कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये। जितने अच्छे व बुरे काम हम करते हैं वे सभी अपने संस्कार मन पर छोड़ जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण हमारे चरित्र में सद्‌गुण अथवा दुर्गुण आते हैं। सामान्य स्थिति से उठकर निर्वाण प्राप्त करने पर्यन्त जिन-जिन अभ्यासे की आवश्यकता है, उन सबको मनुष्य को करना पड़ता है। अर्हत पद का प्राप्त करना कई जन्मों के प्रयत्नों का फल है। जो मनुष्य पहले सिद्धि लाभ करने का प्रयत्न पूर्व जन्म में किये रहता है उसे अन्य लोगों की अपेक्षा शीघ्र ज्ञान-लाभ हो जाता है। थोड़े ही अभ्यास से उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। हमारे प्रत्येक बुरे कार्य और प्रत्येक भले कार्य एक दूसरे की तुलना में आते हैं। यदि भले कार्यों का पलरा भारी हुआ तो अच्छा जन्म मिलता है और यदि बुरे कार्यों का पलरा भारी होता तो नीच योनियों में जन्म होता है। अथवा मनुष्य योनि में भी आकर मनुष्य ज्ञान की ओर प्रवृत नहीं होता।

भगवान बुद्ध के जीवन की अनेक कथायें जिन्हें जातक कथायें कहते हैं, उपयुक्त सत्य को दर्शाती हैं। भगवान बुद्ध बुद्धत्व को अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद प्राप्त किये। उन्होंने धीरे-धीरे करके उन गुणों को ग्रहण किया जो कि ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होते हैं। यहाँ भगवान के वीर पारमित होने की कथा उल्लेखनीय है।

भगवान बुद्ध ने एक समय वनजारों के घर में जन्म लिया था। वनजारों की टोली एक स्थान से दूसरे स्थान को सामान लेकर घुमा करती थी। इस तरह लोगों के जरूरतों की चीजें वह दूर-दूर तक पहुँचाती थी। एक समय बोधिसत्त्व अपने साथियों को लेकर रेगिस्तान के पार जा रहे थे। रेगिस्तान पार जाने के लिए जानवरों पर पानी लाद लिया जाता था। बोधिसत्त्व के साथ भी एक पथ-प्रदर्शक साथ चला। कई दिनों तक चलने के बाद यह पता चला कि अब उस रेगिस्तान का छोर आ गया है। यात्री लोग रातभर चलते थे और दिन में सूर्य की गर्मी के कारण चल नहीं सकते थे अतएव अपने तम्बुओं में अथवा गाड़ी के नीचे पड़े रहते थे। जब पथ-प्रदर्शक ने कहा कि एक दिन के चलने पर ही रेगिस्तान के पार हो जावोगे तो लोगों ने बहुत-सा पानी जो साथ लिया था फेंक दिया। पर पथ-प्रदर्शक उसी दिन सो गया और यात्रियों का दल कहीं का कहीं चला गया। जब सवेरा होने पर पथ-प्रदर्शक गया तो देखा कि सब लोग

मार्ग भूलकर कहीं का कहीं चले गये थे। इधर पानी भी नहीं बचा था। सब लोग हताश हो गये। उन्हें निश्चित हो गया कि अब वे मृत्यु-मुख में पड़ जायेंगे। अतः निराश होकर वे लोग जमीन पर पड़ गये।

बोधिसत्त्व उद्योगशील थे। वे हिम्मत हारना जानते न थे। वे पानी की खोज में निकले। एक जगह उन्होंने हरियाली देखी। उन्हें विश्वास हुआ कि उस स्थान पर अवश्य पानी होगा। इसलिए अपने साथियों को लेकर उसे खोदने लगे। बहुत यात्री इस कार्य को मूर्खता कहते रहे पर वे खोदना नहीं छोड़े। कुछ दूर कुँवा खोदने के बाद एक जहाज आई। जहाज के आने पर तो सब लोग चकित हो गये। बोधिसत्त्व हताश न हुए और छिन्नी से उस जहाज का लोहा काटते रहे। अन्तत. लोहे में एक दरार निकल आयी। दरार में कान लगाकर सुनने पर उन्हें एक आवाज सुनायी दी। वह आवाज पानी की थी। फिर क्या था बोधिसत्त्व अपने साथियों के साथ पत्थर को तोड़ने लगा। और थोड़ी देर में ही पानी का स्रोत निकल आया। इससे एकाएक कुँआ पानी से भर गया। सब लोगों ने खूब पानी पी और मार्ग के लिए गाड़ियों पर पानी ले लिया। दो-एक दिन चलने के बाद वे इच्छित स्थान पर पहुँच गये। इस प्रकार उद्योगशीलता ने सफलता दी। मनुष्य को कितनी कठिनाई क्यों न पड़े प्रयत्न करना कभी न छोड़ना चाहिये।

महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्म की एक और कहानी है। वे एकबार जहाज में बैठ किसी दूसरे स्थान को जा रहे थे। इसी समय एक भारी तूफान आया और समुद्र की लहरें ऊँची-ऊँची चलने लगीं। सब लोगों को निश्चित हो गया कि जहाज अब अवश्य डूब जायेगा। बोधिसत्त्व तो हिम्मत हारने वाले नहीं थे। उन्होंने घी के कुप्पे के पास जाकर खूब घी पी लिया और शरीर में तेल लगा लिया। और जहाज के डूबने के समय समुद्र में कूद पड़े। वे तीन दिन तक तैरते रहे। उनकी परीक्षा लेने के लिए मणिमेखला नामक एक देवी आई। उसने तैरते हुए बोधिसत्त्व से कहा कि तुम क्यों प्रयत्न करते हो। समुद्र बहुत बड़ा है इसका पार नहीं पा सकते हो। बोधिसत्त्व ने उसका जबाब यों दिया--प्रयत्न करना मनुष्य का कार्य है। यही उसका धर्म है। अपने धर्म का पालन करते हुए मरना निराश होकर मरने से अच्छा है। देवी ने फिर भी कहा कि तुम्हारे तीन दिन के प्रयत्न से लाभ ही क्या हुआ। यदि तुम अपने साथियों के साथ ही मर गये होते तो इतनी यन्त्रणा तो नहीं भोगनी पड़ती। बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया कि मेरे प्रयत्न करने से मुझे अवश्य लाभ हुआ है। मेरे साथी तो मर गये उन्हें तुम्हारा दर्शन भी नहीं हुआ। मैं प्रयत्न करता रहा अत. जीवित हूँ और

तुम्हारे दर्शन भी पा सका। अब मैं तुम्हारे दर्शन के बाद मरूँगा। इस उत्तर से देवी प्रसन्न हो गयी और बोधिसत्त्व को लहरों से उठाकर हृदय से लगा लिया। बोधिसत्त्व के प्राण बच गये। इस तरह उनकी प्रयत्नशीलता लाभकारी हुई।

चाहे कैसी भी कठिनाई में मनुष्य क्यों न पड़ा हो उसे हताश नहीं होना चाहिए। यदि वह प्रयत्न करते मरता है तो दूसरों को उस कार्य मे लगे रहने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसके विपरीत वह निराश होकर किसी काम को छोड़ देता है तो दूसरे मनुष्य भी उसके अनुकरण से नीचे गिरते हैं। उत्साही और प्रयत्नशील व्यक्ति अपने आस पास के लोगों को प्रयत्नशील और उत्साही बना देता है। मनुष्य जब भी कोई काम करे तो उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसका कार्य सीमित नहीं रहेगा, उसका असर समष्टि पर पड़ता है।

जिस मनुष्य का संकल्प सच्चा होता है उसे सफल होने में प्रकृति उसकी सहायता करती है। प्रकृति की शक्ति अपरिमित होती है। जब कोई मनुष्य धर्म के मार्ग पर चलता है तो उसके लिए शक्ति का भण्डार खुल जाता है।

मैजिनी ने जिस समय इटली की स्वाधीनता का संकल्प किया था उस समय उसे लोग पागल कह रहे थे। गेरीवाल्डी एक हजार वन युवकों को लेकर इटली को स्वतंत्र करने चला था। इन युवकों के पास अच्छे हथियार भी न थे। पर कर्तव्य परायण व्यक्ति की सहायता अज्ञात शक्ति करती है।

जो शुभ काम करना हमारा कर्तव्य है उसे हमें अवश्य करना चाहिए। उस काम का परिणाम हम अपने जीवन काल में पा सकें अथवा नहीं, शुभ काम का फल नष्ट नहीं होता। यदि हमारा शरीरान्त भी हो गया तो अपने भले किये का फल हमें अवश्य होगा। हम जहाँ भी जन्म पावेंगे सुख और सुविधाएँ पायेंगे कि अपने पुराने अभ्यास में हम तुरन्त लग जावें और जिस सिद्धि को इस जन्म में प्रयत्न करने के बाद भी न पा सके उसको थोड़ा सा यत्न करने के बाद पा लेंगे। पुराने जन्म के पुण्यों का फल है कि कोई मनुष्य प्रखर बुद्धि वाला होता है। कोई सच्चरित्र होता है तो कोई दुराचारी। प्रतिक्षण भले काम में लगे रहने में ही हमारा कल्याण है।

भारतवर्ष में निराशावाद का प्रचार अधिक हो गया। कितने लोग नये काम को हाथ में लेने के बाद यह सोचने लगते हैं कि अब तो थोड़े ही दिनों तक जीना ही है। अतः व्यर्थ का नया प्रयत्न क्यों किया जाय। इस तरह वे अपने आप को और दूसरों को उद्योगशील बनने से रोकते हैं। यह विचार बहुत ही बुरा है। मनुष्य को अपने आप को अमर जानना चाहिए। अपने कर्तव्य को यदि हमने पहचान लिया तो उसे कभी न छोड़ना चाहिए। जो

हमारा कर्तव्य है उससे बच नहीं सकते। जिस काम के करने से हम अभी भागते हैं वही काम हमें पीछे करना पड़ेगा। यदि हम उस काम को इस जन्म में न करेंगे तो उस जन्म में करना पड़ेगा। बिना किये कोई भी कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक कर्तव्य को प्रेम एवं हर्ष से स्वीकार करना चाहिए।

अंग्रेजी में कहावत है कि एक औंस अभ्यास एक टन कोरे ज्ञान से बढ़कर है। जब तक जीवन में कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता तब तक आत्मा की अनन्त शक्ति का ज्ञान नहीं होता। जो मनुष्य जान-बूझ कर कठिनाइयों को झेलता है वह दुर्दिन में अविचल मन रहता है। उसे परिस्थितियों के झकोरे हिला डुला नहीं सकते। ऐसा ही मनुष्य दूसरों का भी कल्याण कर सकता है। उसका जीवन ही दूसरों के लिए शिक्षा है।

"विचारों के प्रति सतर्कता की आवश्यकता"

मनुष्य के मन में चलने वाले विचार बाजार मे चलने वाले लोगों के समान अनेक और कई प्रकार के होते हैं। अपनी दुकान पर बैठा हुआ व्यापारी इन अनेक राहगीरों को देखता रहता है। इसी तरह चतुर मनुष्य विचारों के प्रति साक्ष्यभाव रखता है। विचारों को मन मे चलने से रोकना उसी प्रयत्न के समान है जो बाजार में चलने वाले राहगीरों को रोकने मे किया जाता है। हाँ हमें अपनी दुकान पर हर एक विचार ठहरने न देना चाहिए। हमें विचारों के प्रति सतर्कता रखनी चाहिए। भले और सभी प्रकार के विचार हमारे चेतन के समक्ष आते हैं। भले विचारों का स्वागत करना और बुरे विचारों को भगा देना यही ऐसा मार्ग है जो कल्याण की ओर ले जाता है।

भले और बुरे विचारों की परख कैसे हो? भला विचार वह है जो हमारे स्वागत करने पर ही हमारे पास आता है। जिसका तनिक भी अनादर होने पर हमसे भाग जाता है। बुरा विचार वह है जो चोरी से आ जाता है और बरबस मन मे घुस जाता है। एक बार घुस जाने पर निकालने से भी नही निकलता जो विचार हमारे मन में आकर हमें शान्ति दे, वह भला विचार है। और जो दुःख दे वह बुरा विचार है। पर कभी-कभी बुरा विचार बड़ा प्रिय रूप धारण करके आता है। बुरे विचार की बुराई कुछ काल के बाद ज्ञात होती है। दूसरे के अकल्याण की चिन्ता करना, ईर्षा के विचार पहले पहल अच्छे लगते हैं, पर ये विचार मन को इतना निर्बल बना देते हैं कि यदि हम इनको अपने मन से निकालना चाहें तो नहीं निकाल सकते। इन विचारों के बाद अपने अकल्याण के विचार मन मे आने लगते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार के अकारण भयों से डरने लगता है। इस तरह वह वास्तव में अपना विनाश कर देता है।

जिस तरह मनुष्य साप बिच्छू को अपने सिरहाने रख कर नहीं सोता उसी तरह बुरे विचारों को अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए। जब बुरे विचारो को अनेक बार चेतना मे प्रवेश करने से रोक दिया जाता है तब फिर वे उसमे आने की हिम्मत नही करते। प्रतिक्षण इस कार्य मे सतर्कता की आवश्यकता है। हम समझते हैं कि अपने मन रूपी मन्दिर के हम मालिक हैं। पर यह बात ऐसी नहीं। मन तो एक प्रकार की सराय है जिसमे नित्य यात्री लोग आया ही करते हैं और हम चौकीदार की तरह हैं। हमे चाहिए कि राहगीरों को मकान मालिक न बनने दें। और न उन्हें इसमे से कुछ उठा ही ले जाने दे।

जब कोई अवांछनीय विचार मन में आते हैं तब हमें उनके प्रतिकूल विचार लाकर उनको हटा देना चाहिए। चिन्ताजनक किसी विचार को दमन कर देने से हमें उस विचार की शक्ति प्राप्त हो जाती है। जब कोई विचार प्रबलता से मन में उठे तो थोड़े काल के लिए उसको छोड़ देना हमारा पहला कर्तव्य है। इस प्रकार उस विचार पर ही हम विजय नहीं पाते वरन् हम जिस काम को करना चाहते हैं उसको भी सफल बना देते हैं। जब कोई संकल्प मन में उठे और वह संकल्प अपने कल्याण का हो तो उस संकल्प को धारण करके कुछ काल के लिए उसके विषय में चिन्तन करना छोड़ देना चाहिए। मानो, इस तरह तुमने खेत में बीज बो दिया है। बीज बो देने के बाद खेत में पानी सींचने की आवश्यकता है। आशा रूपी जल विचार रूपी बीज को उगाने के लिए डाला जाता है। अपने आप से हमें यही कहते रहना चाहिए कि हमारा अमुक संकल्प है। वह अपने आप फलित होगा, जब उसके लिए उपयुक्त समय आ जायगा। कोई भी शुभ कल्पना व्यर्थ नहीं जाती। सकल्प के फलित होने केलिए अश्रद्धान्वित मन होना उचित नहीं। संकल्प का फलित होना हमारे प्रयत्न पर ही निर्भर नहीं है, उसके लिए बाह्य वातावरण के अनुकूल होने की आवश्यकता है। वातावरण एकाएक अनुकूल नहीं हो जाता। वातावरण ही हमारे अदृश्य मन का कार्य है। अदृश्य मन वह विश्वकर्मा है जो समस्त सृष्टि की रचना करता है। जो संकल्प दृढ़ता से धारण किया जाता है उसके अनुकूल बाह्य परिस्थियाँ भी बनती जाती हैं।

जिस प्रकार की हम तैयारी चाहते हैं उसी प्रकार के विचार हमें चेतन मन में ठहरने देना चाहिए। चेतन मन के विचार ही कुछ काल बाद अचेतन मन में चले जाते हैं। फिर इस स्वभाव के अनुकूल बाह्य सृष्टि भी बन जाती है। अतएव जो भले जगत में रहना चाहता है उसका कर्तव्य यही है कि चेतन मन में आने वाले विचारों का निरीक्षण किया करें। उसके मन में सभी भले विचार तो न आवेंगे पर बुरे विचारों का आना रोका जा सकता है। इस प्रकार हमारा आन्तरिक जीवन सुखी हो सकता है।

"मानसिक शक्ति का साक्षात्कार"

हमारे विचारों मे अमित शक्ति है। पर इस शक्ति का साक्षात्कार विरले ही पुरुष को होता है। अपनी शक्ति में विश्वास न रखने के कारण उस शक्ति को रखकर भी उसका लाभ हम नहीं उठाते। हमारे विचारों की शक्ति या तो व्यर्थ चली जाती है या हमारे प्रतिकूल काम करती है। हम जितना ही विचारों के विषय में अध्ययन करते हैं और विचारों की सफलता के नियमों के अनुसार उन्हें कार्यान्वित करते हैं उतना ही हम उन्हें फलभूत करते हैं। और उनकी शक्ति से लाभ उठाते हैं। रोग और स्वास्थ्य, काम में सफलता और विफलता दूसरे व्यक्ति पर अपना प्रभाव या अप्रभाव, धन-संचय और विनाश, सभी बातें हमारे विचार की गति पर निर्भर करती हैं। अतएव हमें यह जानना अत्यन्त आवश्यक होता है कि मनुष्य का कौन-सा विचार फलित होता है और कौन-सा व्यर्थ जाता है। शक्ति हीन विचार को शक्तिशाली बनाने के लिए कौन उपाय है और किसी विचार की गति अपने ही प्रतिकूल हो जाने पर उसे कैसे अनुकूल दिशा में मोड़ा जा सकता है।

विचार की शक्ति उसकी एकाग्रता पर निर्भर करती है। जब कोई भी विचार सदा एक ही ओर प्रवाहित होते रहता है तो वह अवश्य ही फलित होता है। साधारणतः हमारा कोई विचार एकाग्र नही होता। विचार की एकाग्रता के लिए सफलता मे विश्वास होना अत्यावश्यक है। पर भविष्य के विषय मे कौन पहले से ही निश्चित हो सकता है कि कोई घटना एक प्रकार से घटित होगी और दूसरी प्रकार से घटित होगी। अतएव जिस घटना मे मनुष्य का स्वार्थ रहता है उसके विषय में वह चिन्तित रहता है। चिन्ता का अर्थ है सफलता में संदेह। संदेह नकारात्मक विचार है। वह जो कुछ सकारात्मक विचार बनाता है उसे नष्ट कर देता है। मनुष्य की किसी एक बात मे जितनी प्रबल इच्छा होती है उसके उस बात के सम्बन्ध मे नकारात्मक विचार भी उतने ही प्रबल होते हैं। एक ओर उसका चेतनमन एक प्रकार का विचार करता है, ठीक उसके प्रतिकूल उसके अचेतन मन मे विचार उठते हैं। मनुष्य को किसी कार्य मे सफलता तभी मिलती है जब कि उसके चेतन और अचेतन मन मे एकता रहती है। अर्थात् जब मनुष्य की अचेतन मन वही करने लगता है जो उसका चेतन मन चाहता है। किसी काम को करने की शक्ति मनुष्य के अचेतन मन मे है। उसके चेतन मन मे राय देने या चिन्तन करने मात्र की शक्ति है। जो बात मनुष्य का अचेतन मन नहीं चाहता वह नहीं होती। जब

किसी कार्य को मनुष्य का अचेतन मन नहीं चाहता तो अनेक प्रकार की शंकाएँ करता है। इसके कारण चेतन मन की विचारधारा एकमुख होकर नहीं बहती और मनुष्य सफल नहीं होता।

मनुष्य के चेतन और अचेतन मन मे अनुरूपता और विरूपता दोनों प्रकार का सम्बन्ध है। चेतन मन का सम्पर्क बाह्य जगत से है। उसके अचेतन मन का सम्पर्क अन्तर्जगत से है। मनुष्य का चेतन मन ज्ञात है और उसका अचेतन मन शक्ति को धारण करता है। व्यक्ति का चेतन मन भोक्ता है। और अचेतन मन भावों का निर्माणकर्ता। विचार चेतन मन मे उठते हैं पर उनकी फलित अचेतन मन ही करता है। किसी भी विचार के दो सिरे होते हैं एक सिरा तो सकारात्मक होता है और दूसरा नकारात्मक। विचार का नकारात्मक सिरा अन्तर-जगत से सम्बन्धित रहता हैं। एक चेतन मन मे रहता है तो दूसरा अचेतन मन मे। जो विचार मनुष्य के अचेतन मन तक पहुँचता है वही फलित होता है। पर अचेतन मन तक पहुँचने तक विचार अपनी विपरीत अवस्था मे परिणत हो जाते हैं। किसी विचार के चेतन मन में उठते ही अचेतन मन मे विरोधी विचार उठ जाता है। इस विरोध के कारण कोई विचार ही फलित नहीं होता ? इतना ही नहीं, विरोधी विचार फलित होने के लिए अधिक तत्पर हो जाता है। विचार के फलित होने के लिए यह आवश्यक है कि विरोधी विचार मन में न उठे। पर विरोधी विचार किसी भी विचार के साथ इस प्रकार जुड़े हैं जिस प्रकार किसी वस्तु के दो सिरे।

जब मनुष्य किसी प्रकार की इच्छा करता है और उसके प्रतिकूल की वह चिंता करने लगता है तो उसकी इच्छा फलवती नही होती। कितने ही लोग अपनी सफलता के विषय मे आत्मनिर्देश देते हैं पर इनके निर्देश सदेहरहित नहीं होते। अतएव ये सफल नहीं होते। इतना ही नहीं, इन निर्देशों के कारण वे कई प्रकार के सकटों मे पड़ जाते हैं। आत्मनिर्देश रोगों से मुक्त होने का एक बड़ा अचूक उपाय है। पर साधारणत: आत्मनिर्देश से रोगों का नाश न होकर उनकी वृद्धि होती है। थोड़े ही समय मे निर्देश की शक्ति ही मे मनुष्य का विश्वास चला जाता है। इस प्रकार की स्थिति का कारण मनुष्य के अनजाने ही सशय की उत्पत्ति होती है। मनुष्य की इच्छा के पूर्व ही उसका सदेह उसके अचेतन मन में कार्य करने लगता है। संदेह उसके आत्मविश्वास को नष्ट कर डालता है। इस तरह मनुष्य को सफलता की जगह विफलता ही मिलती है।

मनुष्य को संदेह क्यो उठते हैं ? संदेह उठने का प्रमुख कारण अपनी शक्ति के विषय मे अज्ञान है। जो मनुष्य जितनी ही भोग इच्छायें रखता है वह

अपनी शक्तियों से उतना ही अज्ञ रहता है। इच्छाएँ मनुष्य की देहात्म बुद्धि को दृढ़ करती हैं। मनुष्य की देहात्म बुद्धि जितनी ही उसे अपनी शक्ति में भी विश्वास नहीं रह जाता। इसीलिए चिकित्सक धनी लोगों की अपेक्षा गरीब लोगों की चिकित्सा में अधिक सफल होता है। वैद्य जितना निःस्वार्थ-भाव से गरीब लोगों की चिकित्सा कर सकता है उतने निःस्वार्थ भाव से वह धनी लोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता। धनी लोग चिकित्सक को खरीद लेने की चेष्टा करते हैं और वे चाहे जिस रूप में चिकित्सक को द्रव्य दें उसका प्रभाव चिकित्सक के मन पर अवश्य पड़ता है। इससे चिकित्सक की कार्यक्षमता अथवा आध्यात्मिक शक्ति नष्ट हो जाती है।

मनुष्य की विचार शक्ति उतनी ही है जितनी कि वह उसके विषय में धारण कर सकता है। जो व्यक्ति अपने विचार को व्यर्थ खर्च कर डालते हैं वे उन लोगों के समान दरिद्र बने रहते हैं जो कि अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का अपव्यय करके दरिद्र अवस्था को प्राप्त करते हैं। प्रत्येक विचार जो हमारे मन में आता है, मानसिक शक्ति को संचय करता है अथवा उसका खर्च करता है। सांसारिक विषयों के बारे में आनेवाला विचार मानसिक शक्ति का अपव्यय करता है। अपने आपके विषय में आया हुआ विचार मनुष्य की शक्ति का संचय करता है। विचार के विषय में विचार करने से शक्ति का सचय होता है। विचार में जिस कल्पना को मनुष्य पकड़ता है वह वास्तविकता में परिणत हो जाती है। पर इस तरह कल्पना के वास्तविकता में परिणत होने में विचार की शक्ति खर्च होती है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है तो उसे अनेक प्रकार की चिंताएँ घेरने लगती हैं। वह उनका आगमन नहीं रोक पाता। इससे उसके विचार की शक्ति का और ह्रास हो जाता है। चिंताग्रसित मनुष्य क्रोधी और चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। कुछ दिन में ही उसे शारीरिक अथवा मानसिक रोग पकड़ लेता है। वह अन्त में अपने जीवन को भाररूप बनाकर ढोने लगता है। इस तरह उसकी सफलता ही उसके दुःख का कारण बन जाती है। इस स्थिति से बचने के लिए विचार के विषय में ही विचार करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार मनुष्य अपनी शक्ति को संचित रखता है।

विचार की शक्ति को सचित रखने के लिए सम्यक्स्मृति का अभ्यास करना अत्यावश्यक है। मन में आने वाले सभी विचारों के प्रति सतर्क रहने से विचारों की शक्ति का संचय होता है। जागरूकता सिद्ध संकल्पता उत्पन्न करती है। मनुष्य को सिद्ध संकल्प होने के लिए व्यर्थ विचारों को मन में न आने देना न चाहिए। अधिक दृढ़ होती है उसके संदेह भी उतने ही अधिक दृढ़ होते

प्रकार बनते जाते हैं। कितने ही लोग व्यर्थ बकवाद किया करते हैं। इस प्रकार का बकवाद करने से मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। और आत्म-नियंत्रण न रखने की आदत पड़ जाती है। बकवाद से बुरा है निन्दा करना, चुगली करना और गाली गलौज करना। इससे जो शक्ति का अपव्यय होता है वह बहुत ही भारी है। इस प्रकार वाणी-पर संयम न रखने पर मनुष्य का आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य बहुत बोलता है उसे न अपने आप ही अपनी बातों पर विश्वास होता है न दूसरे ही उसकी बातो पर विश्वास करते हैं।

अपने संकल्प को सफल बनाने के लिए कुछ समय से संकल्पहीन मन कर देना अत्यन्त आवश्यक है। संकल्प के साथ-साथ विरोधी भाव की उत्पत्ति होना अति अनिवार्य है। जब कोई संकल्प मन में आवे तो उस पर मन को अधिक देर तक न रखने की अपेक्षा उसे मन से हटा देना उसको सफल बनाने का सर्वोत्तम उपाय है। देर तक किसी भी संकल्प के रहने से उसके प्रतिकूल विचार अपने आप ही उठता है। जितना प्रबल संकल्प होता हैं विरोधी विचार भी उतनी ही प्रबलता से उठता है। अतएव मनुष्य का अचेतन मन पारस्परिक विरोधी बातों को फलित करने मे लग जाता है। अतएव जिस विधि से विरोधी संकल्प न हों वही विधि संकल्प को सफल बनाने की विधि है।

बिमारी की अवस्था मे रोगी के मन मे अनेक विरोधी संकल्प उठा करते हैं। एक ओर रोगी रोग से मुक्त होना चाहता है और दूसरी ओर उसे यह धारणा रहती है कि वह रोग से मुक्त नहीं हो सकेगा। यदि रोगी आत्म-कल्याण मात्र मन में लावे तो वह रोग मुक्त हो सकता है। पर आत्मकल्याण के विचार आये बिना रहते नहीं। अत रोग से मुक्त होने के लिए शुभ कामना करके मन को विचारहीन करना आवश्यक होता है। इसके लिए कूथे महाशय सम्मोहन का प्रयोग करते थे। रोगी को सम्मलित करने के पहले उसे शुभ निर्देश देते थे। इससे उनके अचेतन मन में शुभ निर्देश हो जाता था। और प्रति निर्देश नहीं जाता था। रोगी का अचेतन मन निर्देश के ही अनुसार करने लगता था। और रोगी का मन एक ओर ही लगने के कारण रोगी रोग मुक्त हो जाता था। यदि कोई व्यक्ति अपने आप को ही शुभ निर्देश देने के पश्चात् चेतनाहीन बना सके तो उसका संकल्प सफल हो जावे। पर यह करना बड़ा ही कठिन है। जहाँ संकल्प आया वहाँ विकल्प आ ही जाता है। इस तरह चेतनाहीन होना अत्यन्त कठिन होता है। अत किसी संकल्प को मन मे न आने देना ही पूर्व संकल्पों को फलित करने का उपाय है। रोगी मनुष्य को रोगमुक्त करने के लिए इतना ही करना आवश्यक है कि वह रोग के

विषय में उदासीन अथवा निश्चित हो जाय। और अपने आप को चेतनाहीन बनाने की चेष्टा करे इस प्रकार के यत्न करने से रोगी की पूर्व की हुई इच्छा फलित होती है।

प्रत्येक धर्म के साधक ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि "हे भगवन! तेरी इच्छा पूरी हो!" इस प्रकार की प्रार्थना ही अपनी इच्छा के पूर्ण होने का सर्वोत्तम उपाय है। अपनी आकांक्षाओं के विषय में जब मनुष्य उदासीन हो जाता है तो उसके फलित होने में संदेह भी मिट जाता है। उसकी इच्छायें फलित हो जाती है। रोगी जब किसी रोग को ईश्वर की इच्छा मान कर भोगने को तैयार हो जाता है तो उसका रोग नष्ट हो जाता है। जब रोग के प्रति भी मैं भावना रोगी अभ्यास करने लगता है तो रोग अपनी भयंकरता छोड़ देता है भी भावना छोड़ देता है। इस प्रकार रोग असाध्य भी साध्य हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ को जब पेट का दर्द होने लगता था तब उस पर वे कविता बनाने लगते थे। रोग के विषय में भूल जाना, अथवा उसे अपने जीवन का आवश्यक अंग जान लेना, उसके प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करना रोग को रोकने का सर्वोत्तम उपाय है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक रोग से डरता है और उससे उब उठता है वह उतनी ही दृढ़ता से उसे पकड़े रहता है।

मनुष्य का मन सदा सहजावस्था में रहना चाहता है। सभी शक्तियाँ मन की सहजावस्था की शक्तियाँ हैं। इच्छा इस सहजावस्था की विनाशक है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए नकारात्मक विचार अथवा संदेह उत्पन्न होते हैं। इच्छा का पूरक संदेह है। इच्छा के फलित होने के लिए यह आवश्यक है कि वह साम्यावस्था की शक्ति को प्राप्त करे। पर इसके प्राप्त करने के लिए इच्छा का नाश हो जाना ही आवश्यक है। जो इच्छा जितनी उद्वेगपूर्ण होती है उसके साथ उतना ही प्रबल संदेह रहता है। पर संदेह इच्छा का विनाश कर डालता है। जब इच्छा उद्वेगपूर्ण नहीं होती तो संदेह भी प्रबल नहीं होता। ऐसी अवस्था में मनुष्य एकाग्र मन से प्रयत्न कर सकता है और उसकी इच्छा सफल होती है। वैयक्तिक इच्छायें उद्वेगपूर्ण ही होती है। लोककल्याण की इच्छायें उद्वेगपूर्ण नहीं होती है। अत लोककल्याण की इच्छाओं को वैयक्तिक इच्छाओं की अपेक्षा फलित होने में सरलता होती है।